बदलाव की पुरवैया

मध्यप्रदेश में कृषि और खाद्य सुरक्षा की बेहतरी
के लिए समाज सरकार और सामाजिक नागरिक
संस्थाओं की पहल की कहानियां

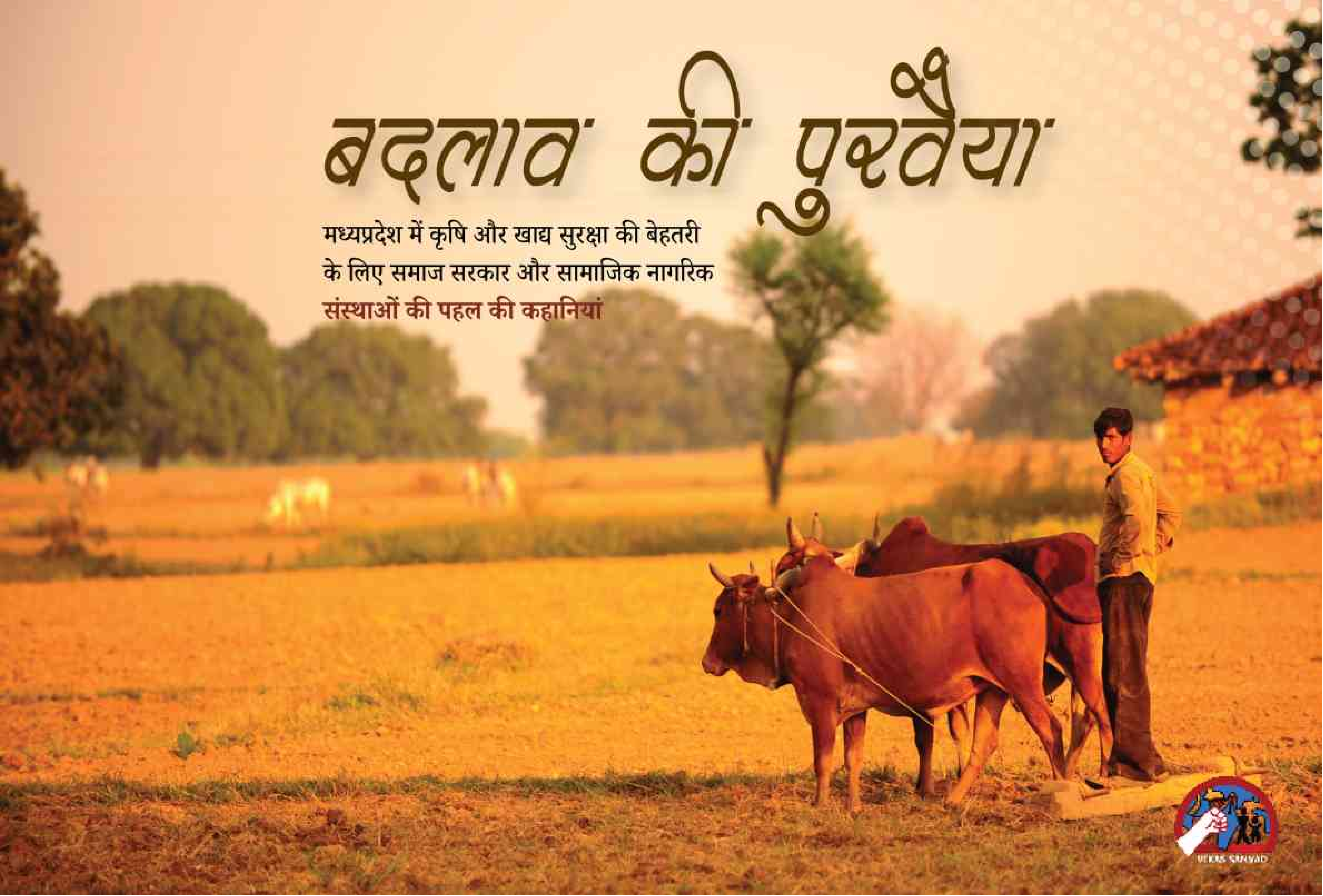

VIKAS SANVAD

बदलाव की पुरवैया

लेखक : चिन्मय मिश्र, बाबा मायाराम, राकेश कुमार मालवीय
मार्गदर्शन : सचिन कुमार जैन
समन्वय : राकेश कुमार मालवीय
डिजाइन : हितेंद्र तिवारी
प्रकाशक : विकास संवाद, मध्यप्रदेश
वर्ष : 2024
संस्करण: प्रथम
प्रतियां: 500
पता : ए-5, आयकर कॉलोनी, गुलमोहर, भोपाल
ईमेल : office@vssmp.org

VIKAS SAMVAD

INDEX

09 संपर्क : खेती में देसी बीजों की वापसी

15 सर्जना : कृषि यानी पारंपरिक वैज्ञानिकता का चरम

27 सुजागृति : गुग्गुल के प्रति अनूठी 'सुजागृति'

35 पृथ्वी ट्रस्ट : हीरों की धरती में 'मशरूम' बना सहारा

41 ओएफएआई : जैविक खेती: एक अनचाही अनिवार्यता

51 रंगवासा : जैविक खेती तक पहुंचने का लम्बा सफर

59 अठाना बुनकर सहकारी समिति : अतीत, वर्तमान, भविष्य संजोता गांवों का त्रिकोण

65 श्री एक्वा एंड फूड : मछलीपालनः नई राह-नई तकनीक

73 श्री गुरुकृपा ग्रीन हाउस नर्सरी : खेती की पाठशालाः नई खेती नए संदर्भ

भविष्य की संभावना

प्रयोग का गांधी विचार

महिलाओं की सार्थक पहल

पत्थर पर फूल खिलाने की कोशिश

हरियाली के साथ आजीविका की रक्षा

भूमिका

खेती देश का मुख्य आधार है, यह बार-बार साबित होते रहा है। आर्थिक मंदी में वह देश की अर्थव्यवस्था को गिरने नहीं देती और महामारियों में लोगों का सहारा बनती है, उन्हें रोजगार देती है, भोजन देती है, इसके बाद भी कृषि का कथानक यह है कि वह घाटे का सौदा है। वह भी ऐसा कि किसान खुद अपने बेटे को किसानी में नहीं डालना चाहता, क्योंकि उसकी मुश्किलें हजारों हैं। हालांकि हम जानते हैं कि असली उत्पादक तो किसान ही है, किसानी ही है जो एक बीज से सैकड़ों दाने पैदा कर देती है।

भारतीय कृषि एक ऐसे दौर से गुजर रही है, जहां पर उस पर कई किस्म के संकट हैं। पिछले कई सालों से लगातार ऐसा माहौल तैयार किया गया है जिसमें हमें लगता है कि खेती से कोई उम्मीद नहीं है, वह तो घाटे का ही सादा है। दूसरी तरफ बाजार है जो चाहता है खेती से सम्बंधित संसाधनों पर उसका हक़ हो, और वह इसके लाभ का बड़ा हिस्सेदार बना रह सके। एक तीसरा वर्ग है जिसे खेती में दी जाने वाली राहतें देश के खजाने पर बोझ लगती हैं, और वह इस मत पर पहुंचता है कि किसानों की रियायतें समाप्त की जानी चाहिए। वैश्विक दबावों का असर भी दिखाई देता है, जिसमें किसानों के मजदूरों में बदल जाने की स्थितियां नजर आती हैं।

संकट कहां है? और उसका हल हमें कहां दिखाई देता है? संकट वास्तव में है, या बनाया गया है? किन-किन आयामों पर है? और उसके लिए क्या किया जाना चाहिए। यह कुछ ऐसे सवाल हैं जो खेती किसानी के शुभचिंतकों को हर मंच पर पूछना चाहिए। हमारे अनुभवों ने बता दिया है कि खेती बचेगी तो ही देश भी बचा रहेगा। न केवल आर्थिक नजरिए से बल्कि पर्यावरणीय और सामाजिक संबंधों के नजरिए से भी यह उतना ही महत्वपूर्ण है। रोजगार और आजीविका के नजरिए से भी जरूरी है और आधी आबादी को न्याय देने के नजरिए से भी।

इसलिए हमें संकटों के साथ उनके समाधान पर भी रोशनी डालते रहना चाहिए। रोशनी किसी भी हिस्से से आए। सरकार, समाज, संगठन कोई भी हो, उसे अपनी सामाजिक जवाबदेही के तहत इस सवाल पर सोचना, करना ही चाहिए। सामाजिक नागरिक संस्थाओं ने इसमें अपनी महती भूमिका निभाई है। सामाजिक-नागरिक संस्थाएं देश के अलग-अलग हिस्सों में ऐसे मॉडल स्थापित कर रही हैं जो स्थानीय पर्यावरण और समाज के अनुकूल हैं।

विकास संवाद ने इन्हीं दो छोरों को एक साथ लाने की कोशिश की है और पिछले कुछ समय में इस काम को उभारने की कोशिश की है। चार राज्यों में ऐसे कुछ मॉडल को सीधे देखा समझा है और उनकी केस स्टडीज तैयार की हैं। वैसे हमारी कोशिश देश के चार प्रमुख राज्यों में ऐसे प्रयोगों की कहानियों पर काम किया जाए। इस संकलन में हमने मध्यप्रदेश की कहानियों को समाहित किया है।

इन कहानियों में आपको खेती किसानी के बहुत सारे रंग नजर आएंगे, आप पाएंगे कि पश्चिमी मध्यप्रदेश के इलाके में 'संपर्क' संस्था ने और पूर्वी मध्यप्रदेश में 'सर्जना' संस्था ने देसी बीजों को किस तरह से बचाने की कोशिश की है और उसे लोकव्यवहार में स्थापित भी किया है, वहीं उत्तरी मध्यप्रदेश यानी चंबल के बीहड़ों में 'सुजागृति' संस्था ने विलुप्त होते जा रहे गुग्गुल को कैसे पुनर्स्थापित किया गया है, एक महानगर के अंदर यानी इंदौर में 'रंगवासा' कृषि फार्म के जरिए चालीस सालों से जैविक खेती किस तरह से एक लंबा सफर तय करके कहां तक पहुंची है, वहीं दूरस्थ हीरों की धरती पन्ना जिले में वहीं जमीन नहीं होने पर आदिवासियों की आजीविका बढ़ाने में मशरूम की खेती ने क्या भूमिका निभाई है, यह काम किया 'पृथ्वी' ट्रस्ट ने । धार जिले में 'गोटवाला फार्म' और बड़वानी में श्री 'एक्वा एंड फूड' संस्था के जरिए कुछ रंग आपको पशुपालन के भी मिलेंगे जैसे बकरी किस तरह से जलवायु परिवर्तन के दौर में सबसे उपयुक्त है तो वहीं मछलीपालन के नजरिए से भी आपको बात मिलेगी। कुछ संकटों के बीच में आजीविका और उस कला के संरक्षण की बातें भी हैं, 'अठाना बुनकर सहकारी समिति' ऐसी ही कामों में लगी है, वहीं बुंदेलखंड के इलाकों में 'मध्यभारत खादी मंच' और 'बहुतन हिताय समिति' के जरिए महिलाओं द्वारा किए जा रहे प्रयासों को लाने की कोशिश की गई है। एक बहुत पुरानी संस्था को खेती के जरिए कैसे आक्सीजन मिला यह हम छतरपुर के 'गांधी आश्रम' की कहानी को पढ़कर जान सकेंगे। वहीं एक कहानी ऐसी भी है कि कैसे एक गांव जागरुक होकर अपने पुनर्वास स्थल को एक मॉडल के रूप में स्थापित कर देता है।

यह कहानियां अंतिम नहीं हैं, लगातार चलने वाली-बनने वाली कहानियां हैं। हम जानते हैं कि मध्यप्रदेश की धरती पर इससे भी अच्छे प्रयोग समाज-सरकार ने किए होंगे, हमें उन तक पहुंचना शेष है। इसमें आप भी हमारी मदद कर सकते हैं। आपको यह संकलन उपयोगी लगेगा। हमें ऐसी आशा है। आपकी प्रतिक्रियाओं का हमें इंतजार रहेगा।

सादर

टीम विकास संवाद

समग्र जैविक कृषि एवं उत्पादन
वृद्धि तकनीकी प्रशिक्षण
कार्यशाला
सम्पर्क म.प

संपर्क

खेती में देसी बीजों की वापसी

मध्यप्रदेश का झाबुआ आदिवासी बहुल जिला है। इसकी भौगोलिक व सांस्कृतिक रूप से अपनी अलग पहचान है। यहां के मुख्य वाशिन्दे भील, भिलाला, पटलिया आदिवासी हैं। इस जिले की सीमा गुजरात के दाहोद व राजस्थान के बांसवाड़ा को छूती है। यहां का प्रसिद्ध मेला भगोरिया है, जो होली के समय लगता है। ऐसे पारंपरिक मेलों में आदिवासियों की संस्कृति और उनके जनजीवन की झलक देखने को मिलती है।

संपर्क संस्था का परिचय

इस जिले में जमीनी स्तर पर *'संपर्क समाजसेवी संस्थान'* कार्यरत है। यह एक गैर सरकारी संस्था है जिसकी स्थापना वर्ष 1990 में हुई थी। संस्था का मुख्यालय रायपुरिया गांव में स्थित है। इसका कार्यक्षेत्र मुख्यतः भील आदिवासियों के बीच है। संस्था की शुरुआत श्री नीलेश देसाई ने की थी। वे मूलतः गुजरात निवासी हैं, लेकिन अब इस आदिवासी अंचल में बस गए हैं। उनकी पत्नी प्राक्षली देसाई भी बराबरी से जुड़ी हैं। गौरतलब है श्री नीलेश देसाई को जमनालाल बजाज पुरस्कार से सम्मानित किया जा चुका है। संस्था का उद्देश्य समग्र विकास के माध्यम से समुदायों को मजबूत बनाना है। साथ ही हाशिये के लोगों को आत्मनिर्भर बनाना और समुदायों को स्वावलंबी बनाना भी इसके उद्देश्यों में शामिल है। इसके तहत् टिकाऊ आजीविकाओं को सतत् बढ़ावा देना, स्वास्थ्य और पोषण को बेहतर करना, शिक्षा और कौशल विकास को बेहतर करना, प्राकृतिक संसाधनों का विकास व प्रबंधन करना, इत्यादि काम किए जा रहे हैं।

टिकाऊ कृषि कार्यक्रम

यहां के भील आदिवासियों की आजीविका का मुख्य स्रोत कृषि है। संस्था ने इसके लिए टिकाऊ और पर्यावरण के अनुकूल कृषि आधारित कार्यक्रम चलाया है। इसका उद्देश्य जैविक खेती और देसी बीजों के माध्यम से कृषि में टिकाऊपन को बढ़ाना और किसानों की आमदनी बढ़ाना है। इस कृषि कार्यक्रम से जुड़े हरीश पंवार बताते हैं कि जैविक खेती के कौशलों को प्रयोगधर्मी किसानों में विकसित किया जा रहा है। इस कार्यक्रम के तहत् खेतों में फसल की तैयारी, खेतों को सुधारना, बीजों का उत्पादन करना, बीजों का चयन, जैविक खाद को तैयार करने की विधि, जैव कीटनाशक तैयार करने की विधि, जैव कीट नियंत्रण, खेत भ्रमण इत्यादि काम किए जा रहे हैं। इस तरह इन कृषि कामों से गांव व इलाके के किसान जुड़ते हैं। जैविक खेती और देसी बीजों की खेती के इस कार्यक्रम से करीब 20 गांवों के किसान जुड़े हैं।

जैव कीट नियंत्रण और जैविक खाद

जैविक खेती करने वाले किसान जैविक कीटनाशक व जैविक खाद खुद तैयार करते हैं। उन्हें संपर्क संस्था द्वारा इसका प्रशिक्षण दिया गया है। इसकी कई विधियां हैं, जैसे

फेरोमोन ट्रैप : इसके अंतर्गत जैविक कीटनाशक बनाकर जैव नियंत्रण किया जाता है। अन्य विधियों से भी कीट नियंत्रण किया जाता है, जैसे फेरोमोन ट्रैप (गंध पाश भी कहते हैं)। इसमें एक प्लास्टिक की थैली होती है। जिसमें फेरोमोन द्रव्य की गंध होती है जो नर पतंगों को आकर्षित करती है, यह ट्रैप ऐसे बने होते हैं कि इसमें कीट अंदर जाने के बाद फंस जाते हैं और बाहर नहीं निकल पाते। इसमें पीली पट्टियों का इस्तेमाल किया जाता है।

पांच पत्ती काढ़ा : पांच पत्ती काढ़ा या इसे पंचपर्णी काढ़ा भी कहते हैं। नीम, सीताफल, धतूरा, बेशरम, अकौआ आदि की पत्तियों से काढ़ा तैयार किया जाता है। सबसे पहले इन पत्तियों को पीसा जाता है। फिर इतना उबाला जाता है कि पानी आधा हो जाए, इसके बाद गोमूत्र में मिलाकर इसका छिड़काव किया जाता है। इससे कीट पतंगों के प्रकोप से फसलों का बचाव होता है।

सोया टॉनिक : इसे सोयाबीन को सड़ाकर बनाया जाता है। उसके बाद उसमें गुड़, सड़े-गले पपीते भी डाल सकते हैं। इसके बाद इसे छान लिया जाता है। इस तरल पदार्थ को फसलों में छिड़क देते हैं, जिससे फसलें अच्छी होती हैं।

नाडेप : इसे तैयार करने के लिए सबसे पहले एक गड्ढा बनाया जाता है। इस गड्ढे को सफाई कर उसमें जैविक कचरे की परत बिछा देते हैं। इसके बाद गोबर के घोल को इस कचरे पर छिड़क देते हैं। हरी पत्तियों व खरपतवार की एक परत डाल देते हैं। इसके बाद पुन: गोबर डाल देते हैं। 2-3 इंच मिट्टी की परत डाल कर प्लास्टिक से ढक देते हैं। इस तरह परत दर परत भरते जाते हैं और अंत में मिट्टी डाल देते हैं। इसे पानी छिड़क कर गीला रखते हैं। लेकिन सावधानी यह रखनी होती है कि यह न ज्यादा गीला हो और न ही ज्यादा सूखा। इस प्रकार 40-50 दिन में खाद बनकर तैयार हो जाती है। इसके अलावा, गोबर खाद, केंचुआ खाद, जीवामृत, घना जीवामृत, शडरस, यूनिक एसिड, तांबे के बर्तनवाली छाछ, कंडा पानी, इमली, महुआ की छाल का स्वरस काढ़ा तैयार किया जाता है। निंबोली का अर्क, वेस्ट डी कम्पोजर, पंचगव्य इत्यादि बनाया जाता है। संपर्क परिसर में वर्मी कम्पोस्ट किट बने हुए हैं, जिनसे 50 किलो के 90 बैग प्रत्येक तीन महीनों में करीब 4500 किलो केंचुआ खाद तैयार होती है और यह बेची जाती है। इसे सब्जी व फूल उत्पादक किसान खरीदते हैं। इसके अलावा, जैविक नत्रजन को भी खेतों में ही तैयार किया जाता है। वैसे दलहनी फसलें नत्रजन देने का काम करती हैं जिससे रबी मौसम में गेहूं में यूरिया की जरूरत नहीं पड़ती। स्थानीय स्तर पर स्थानीय संसाधनों व किसानों की मेहनत से तैयार जैविक खाद व जैव कीटनाशक बहुत ही कम खर्च में तैयार हो जाते हैं और इन्हें बाजार से नहीं खरीदना पड़ता।

संस्था की कृषि में पहल

देसी बीज संरक्षण

गौरतलब हैं, भारत के प्रत्येक कृषि अंचल में अपनी भौगोलिक एवं पर्यावरणीय परिस्थितियों की दृष्टिगत स्थानीय कृषि पद्धतियां और बीज विकसित किए हैं। इन्हीं देसी बीजों के संरक्षण के लिए सामुदायिक बीज बैंक बनाया गया है। संस्था के मुख्यालय रायपुरिया में प्रमुख सामुदायिक बीज बैंक स्थित है। जहां से किसान बीज लेते हैं और फसल आने पर डेढ़ गुना वापस करते हैं। इस बीज बैंक में गेहूं की 22 किस्में मौजूद हैं। दलहन की 32 किस्में हैं, जिसमें चना, तुअर, उड़द, मूंग, मसूर, मटर इत्यादि शामिल हैं। तिलहन की 12 किस्में हैं, जिसमें मूंगफली, तिल, सोयाबीन, सूरजमुखी शामिल हैं। पौष्टिक अनाजों में कोदरा, कंगनी, राला, कुलथिया, सांवा, बावटा, बट्टी, कुरी, चीनो,भादली, सामली और गुजरा इत्यादि के बीज भी संरक्षित हैं। इसके अलावा,मक्का जो कि स्थानीय आदिवासियों का मुख्य खाद्य है उसकी भी 6 किस्में यहां हैं, जिसमें सातपानी, दूधमोंगर, खोखड़ी, हामेरी, निनोरी, साठी शामिल हैं। साथ ही देसी सब्जियों की 40 किस्में गिलकी, तोरई, कद्दू, लौकी, भिंडी, पालक, झुमकी तरोई, देसी टमाटर, मेथी, बरबटी, करेला, परवल, तिंदौरी इत्यादि के बीज संरक्षित हैं।

हरीश पंवार ने बताया कि रायपुरिया के अलावा, डाबड़ी और साड में दो सामुदायिक बीज उपकेन्द्र बनाए गए हैं। बीज देने की प्रक्रिया के अंतर्गत सबसे पहले किसानों को सामुदायिक बीज बैंक का सदस्य बनाया जाता है। इसके लिए शुल्क के रूप में 5 किलो मक्का या 2 किलो उड़द या 2 किलो मूंग या 2 किलो मूंगफली या 5 किलो गेहूं या 2 किलो पौष्टिक अनाज देना होता है। यह अपने आप में अनूठा शुल्क है जो वर्तमान नकदी आधारित व्यवस्था का विकल्प देता है। सामुदायिक बीज बैंक से बीज लेने पर किसान को डेढ़ गुना अनाज वापस करना होता है। पर बीज बैंक में यह अनाज नहीं रखा जाता, इसे बेच दिया जाता है। उस राशि से बीज उत्पादक किसानों से अच्छी गुणवत्ता का बीज खरीद लिया जाता है, जिसे बीज बैंक में रखा जाता है।

बीज उत्पादन सहकारी समिति

हरीश पंवार बताते हैं कि तामरिया, डाबडी और पेटलावद में जैविक बीज उत्पादन के लिए सहकारी समिति का गठन किया गया है। इस हेतु 21 सदस्यीय समिति बनाई गई है जो जैविक बीज उत्पादन की समस्याओं के समाधान के लिए काम करती है। यह समिति अच्छी गुणवत्ता वाले सोयाबीन और गेहूं के बीज मुहैया करवाती है। वह बीजों का उत्पादन करती है। इसके अलावा, कई किसान सोयाबीन, कपास, हल्दी और मक्का बीजों के उत्पादन में आगे आए हैं।

गांव चौपाल

संस्था के माध्यम से गांवों की चौपाल में किसानों से संवाद किया जाता है। उन्हें जैविक खेती के फायदे, तकनीक और देसी बीजों की जानकारी दी जाती है। बीजों का चयन व उपचार कैसे करें, यह भी बताया जाता है। जैविक खाद व जैविक कीटनाशक तैयार करना और उनका उपयोग करना बताया जाता है। इसके अलावा फसलों के अवलोकन के लिए किसान दौरे भी करते हैं, यह किसान समूह ऐसे किसानों के खेतों में जाकर फसल का अवलोकन करते हैं जो अच्छी जैविक खेती कर रहे होते हैं। किसान सम्मेलन भी आयोजित किए जाते हैं। प्रोसेसिंग व मार्केटिंग में भी किसानों को सहायता दी जाती है। यहां विशेषकर हल्दी में अच्छा काम हो रहा है।

बीज स्वराज मंच

संपर्क ने भारत बीज स्वराज मंच, मध्यप्रदेश का गठन किया है जिसकी शाखाएं प्रदेश के कई अन्य जिलों में हैं। इसके अलावा संपर्क संस्था सतना, डिंडौरी, और झाबुआ में राष्ट्रीय जैव विविधता अभियान का संयोजन भी कर रही है। इसका उद्देश्य भी देसी बीजों की किस्मों को बढ़ावा देना है। ज्ञातव्य है कि मध्यप्रदेश की कृषि विविधता समृद्ध रही है और यहां स्थानीय परिस्थितियों में विकसित सैकड़ों किस्में हैं। संस्था उनको पुर्नस्थापित करने हेतु प्रयत्नशील है।

जैविक कीटनाशक तैयार करना

खाकरापाड़ा गांव *(पेटलावद तहसील)* के जमनालाल की 4 बीघा जमीन है। वे अपने खेत में खरीफ मौसम में मक्का, सोयाबीन, मूंगफली बोते हैं और रबी मौसम में गेहूं की फसल लगाते हैं। पहले रासायनिक खेती करते थे, पिछले दो साल से जैविक खेती कर रहे हैं। रासायनिक खेती का उनका अनुभव था कि उसमें ज्यादा लागत लगती है और उसके जिसके लिए उनके पास नकदी पैसे नहीं होते थे। उन्होंने बताया कि जैविक खेती में खर्च नहीं होता है। हम बैलों से खुद खेती करते हैं। बीज भी घर का होता है। जैव कीटनाशक व जैव खाद भी हम खुद तैयार कर लेते हैं। जबकि रासायनिक खेती में बीज, खाद, कीटनाशक सभी बाजार से लाना पड़ता है। एक मोटे अनुमान के मुताबिक पहले कीटनाशक व खाद में 8-10 हजार रुपए खर्च हो जाते थे, अब इतने रुपए की बचत हो जाती है और रसायनरहित कीट नियंत्रण भी हो जाता है। उनके अनुसार जैविक उत्पाद बेचने में कोई दिक्कत नहीं है। कुछ किसानों के घर से ही जैव उत्पाद बिक जाता है बाकी का सभी *'संपर्क संस्था'* खरीद लेती है। हमें बाजार में जैव उत्पाद का ज्यादा दाम मिलता है। वे आगे बताते हैं कि उनके खेत को देखने आसपास के किसान आते हैं और उनकी खेती को देखकर वे भी जैविक खेती करने को तत्पर हुए हैं। इस दौरान गांव के ही 8-10 किसानों ने जैविक खेती करना शुरु भी कर दिया है।

जैव उत्पादों के बाजार में ज्यादा दाम मिलते हैं

टेमरिया गांव (पेटलावद तहसील) के कुलदीप आंजना की 10 हेक्टेयर जमीन है। उन्होंने उस पर जैविक खेती की शुरूआत फिलहाल 1 हेक्टेयर जमीन से की है। कुलदीप युवा किसान हैं, हाल ही उन्होंने खेती करना शुरु किया है। पिछले दो वर्षों से जैविक खेती कर रहे हैं। इसका उन्होंने संपर्क संस्था से प्रशिक्षण लिया है और वहां से जैविक खाद और जैविक कीटनाशक बनाना सीखा है। उन्होंने बताया कि उत्पादन भी अच्छा हो रहा है। एक हेक्टेयर में गेहूं का उत्पादन करीब 30 क्विंटल होता है यानी एक एकड़ में 12 क्विंटल। और एक क्विंटल 2300-2400 रुपए में बिक जाता है। जबकि सामान्य गेहूं का न्यूनतम समर्थन मूल्य 1975 रुपए है। यानी बाजार भाव से ज्यादा दाम मिलता है। संस्था स्वयं भी जैव उत्पाद खरीद लेती है। कुछ किसान व स्थानीय नागरिक भी जैव उत्पाद खरीदते हैं। वे बताते हैं कि खरीफ में उड़द, मक्का और अरहर बोते हैं जबकि रबी में गेहूं लगाते हैं। अगर रासायनिक खेती व जैविक खेती में सबसे बड़े फर्क की बात करें तो उनके अनुसार जैविक खेती में मिट्टी की गुणवत्ता में उत्तरोतर सुधार होता है, जबकि रासायनिक खेती में मिट्टी की उर्वर शक्ति कम होती जाती है। जैविक खेती में मिट्टी की जलधारण क्षमता बढ़ती जाती है। वे बताते हैं कि रासायनिक खेती में गेहूं के लिए 15-20 दिन के अंतराल से पानी देना पड़ता है जबकि जैविक खेती के गेहूं में 25 दिन से 1 महीने में पानी दिया जा सकता है। अर्थात आधे पानी की जरुरत पड़ती है।

गेहूं की 16 किस्में, बीजों का संग्रहण व संरक्षण भी

डाबड़ी गांव (पेटलावद तहसील) के रामलाल की अपनी 6 एकड़ जमीन है। इसमें वे गेहूं की देसी किस्में व सब्जियों की खेती करते हैं। वे बीज भी उपजाते हैं, बीजों का संग्रहण व संरक्षण करते हैं। बीज तैयार करने के लिए खेत से पकी व अच्छी बालें छांटते हैं, यह बीज बनाने का परंपरागत तरीका है। वे बताते हैं कि खेत में सभी पौधे एक से नहीं होते। कुछ जल्दी बढ़ते हैं और कुछ धीरे बढ़ते हैं। जल्दी बढ़ने वाले पौधों को ही बीज के लिए चयनित करते हैं। इसमें यह भी देखते हैं कि उस पौधे में कोई रोग न लगा हो। गेहूं की बालियां अच्छी पकी और भरी हों। ऐसे बीजों का संग्रहण कर संरक्षण किया जाता है। उनके पास गेहू की शरबती, ग्वाला, कठिया, वांझिया, बंसी, काली बालीवाला, दाबती, पिस्सी, पैगंबरी इत्यादि किस्में हैं। वे बताते हैं कि इन गेहूं की किस्मों को उन्होंने अलग-अलग जगह से एकत्र किया है। उनके गुणधर्मों की पहचान के लिए खेत में बोया है। इनमें से कई किस्में ऐसी हैं जो लुप्त हो रही हैं। वे बताते हैं कि इनमें पिस्सी, वांझिया और कठिया कम पानी में हो जाती हैं। जबकि बंसी व शरबती स्वाद व पोषक तत्वों से भरपूर हैं।

हरीश पंवार व रामलाल जी का मानना है कि जैविक खेती को बढ़ावा देने के लिए नीतिगत स्तर पर कदम उठाना जरूरी है। जैसे जैविक उत्पादों का उचित दाम सुनिश्चित करना और उसी के साथ ही गांवों में खेती के साथ पशुपालन जैसे पूरक धंधों को बढ़ावा दिया जाना चाहिए। खेतों के आसपास व मेड़ों पर फलदार वृक्षों के लगाने को बढ़ावा दिया जाए। जैव कृषि आदानों की सामग्री रियायती दामों पर उपलब्ध हो। पानी बचाने के लिए डबरी व तालाब को बढ़ावा दिया जाए। बीमा योजनाओं का किसानों को लाभ मिले, इसके लिए उन्हें किसान हितैषी व बेहतर बनाया जाए। जैविक खेती के विकल्प को गंभीरता से लिया जाए और उसे लोकप्रिय बनाने के लिए हर संभव काम किया जाए।

कुल मिलाकर, संपर्क की जैविक खेती की पहल आत्मनिर्भर खेती की दिशा में आगे बढ़ रही है। इससे एकतरफ जैविक खाद व जैविक कीटनाशक किसान खुद तैयार कर रहे हैं, इससे उन्हें रासायनिक खादों से निजात मिल रही है, सामुदायिक बीज बैंक से किसान बीज ले रहे हैं, जिससे उनकी खेती का लागत खर्च कम हो रहा है। दूसरी ओर रासायनिक खेती से उर्वरता खो चुकी मिट्टी में उत्तरोतर सुधार हो रहा है, पारंपरिक देसी बीजों का संग्रहण व संरक्षण हो रहा है।

इसके अलावा, जैविक खेती को लेकर एक आम समस्या है कि जैव उत्पादों का उचित दामों पर बिक्री न होना। परंतु विकल्प के तौर पर संपर्क संस्था ने खुद पहल कर किसानों से जैव उत्पादों की खरीदी की है। संस्था के कार्यक्रम जहां भी होते हैं, या जहां भी उनके संपर्क हैं, वहां वे जैव उत्पादों को बिक्री के लिए रखती है। और किसानों से बाजार से ज्यादा दाम में खरीदकर उपभोक्ताओं को वाजिब दाम पर उपलब्ध कराती है। जिससे किसानों को बाजार से ज्यादा दाम मिल पा रहे हैं। यानी एकतरफ उनका खेती का लागत खर्च कम हुआ है और दूसरी तरफ जैव उत्पादों के बाजार से अच्छे दाम मिले हैं, इससे उनकी आमदनी बढ़ी है। इस जैविक खेती की पहल का विस्तार झाबुआ जिले के साथ मध्यप्रदेश के अन्य जिलों में भी हो रहा है, जो प्रेरणादायक है।

किसान पारंपरिक ज्ञान का इस्तेमाल और जो एक-दूसरे से साझा कर रहे हैं। इस स्वावलंबी खेती में टिकाऊपन बढ़ रहा है। यह खेती पर्यावरण की दृष्टि से सुरक्षित है, जैव विविधतापूर्ण है, कम लागत वाली है, रसायन मुक्त है, कम ऊर्जा प्रयोग करने वाली और श्रम आधारित है।
अंततः यह समुदाय और खेती दोनों को स्वावलंबी बनाने की ओर अग्रसर करेगी।

सर्जना

कृषि यानी पारंपरिक वैज्ञानिकता का चरम

'धान बोवें करगी, सुवर खाय न समधी' इसका अर्थ है किसान को करबी यानी ऐसा धान बोना चाहिए जिसकी फली में कांटे हों, जिससे उसे जंगली सूअर न खा पाएं और चूंकि समधी को यह चावल इसलिए नहीं खिलाया जा सकता, क्योंकि यह लाल होता है, अर्थात इससे घर की अन्न सुरक्षा बनी रहती है। यह एक ऐसी अनूठी कहानी है जो भारतीय कृषि की पारंपरिक वैज्ञानिकता को उजागर करती है। इस पद्धति में मिट्टी के स्वभाव के अनुकूल बीज विकसित किए हैं। मौसम के हिसाब से बीज विकसित हुए हैं। यह एक ही फसल के बीज जो तीन अलग-अलग समयावधि/प्राकृतिक परिस्थितियों के अनुसार विकसित किए गए हैं, का लेखा जोखा भी है।

मध्यप्रदेश : सतना जिला और बघेलखंड का पठार

मध्यप्रदेश का सतना जिला रीवा संभाग का हिस्सा है यह बघेलखंड का पठार भी कहलाता है। सतना जिला दो भागों में विभक्त हैं। एक पहाड़ी क्षेत्र और दूसरा मैदानी क्षेत्र। पहाड़ी क्षेत्र में अधिकांशत: आदिवासी रहते हैं। वहां पौष्टिक अनाजों जैसे कोदो, कुटकी, मक्का, अरहर, और धान की खेती होती है। यहां की मिट्टी हल्की पीली है। वहीं मैदानी क्षेत्र में गेहूं, धान और सोयाबीन की खेती होती है। यहां की मिट्टी काली और दोमट है।

जिले के पश्चिम में कैमोर पर्वत, उत्तरी सीमा में पन्ना की पहाड़ियां और दक्षिणी पश्चिमी सीमा में परसमनियां पहाड़ है। एक समय इस इलाके में घना जंगल हुआ करता था। यहां की नदियां सतना और टमस हैं, जो पहले सदानीरा थीं, अब सूख रही हैं। यहां की बोली बघेली है और लोग हिन्दी भी बोलते हैं। यह क्षेत्र सीमेंट की फैक्टियों के लिए भी जाना जाता है। यहीं मैहर में शारदा देवी का प्रसिद्ध मंदिर है। इसी क्षेत्र में स्थित चित्रकूट के बारे में मान्यता है कि राम ने वन गमन के दौरान यहीं पर अधिकांश समय व्यतीत किया था।

परसमनिया पहाड़ और आदिवासी

इस पहाड़ में 84 गांव हैं। जिनमें गोंड, कोल और भुमिया आदिवासी निवास करते रहते हैं। गोंड आदिवासियों की कई उपजातियां हैं। 15वीं से 18वीं सदी ईस्वी तक मध्यप्रदेश के कुछ हिस्सों में गोंड राजाओं का राज था। यहां गोंड जनजाति की बड़ी आबादी है। वहीं अधिकांश कोल भूमिहीन और अत्यंत निर्धन हैं। वे किसानों के खेतों में मजदूरी करते हैं और रोजगार की तलाश में पलायन कर जाते हैं। यह अल्प संख्या में हैं। कोलों के गांव पहाड़ के किनारे होते हैं और ये जीवनयापन के लिए मूढगड्डा (जलाऊ लकड़ी) बेचते हैं। तीसरी जनजाति भूमिया है। यह जंगल की जड़ी-बूटियों के अच्छे जानकार होते हैं।

यहीं पर पद्मश्री से सम्मानित श्री बाबूलाल दाहिया और उनकी संस्था सर्जना सामाजिक, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक मंच ने देसी बीजों से पारंपरिक खेती और इन बीजों के संरक्षण पर अनूठा काम किया है। संस्था ने परसमनिया पहाड़ के 30 गांवों में देसी बीजों की पारंपरिक खेती को बढ़ावा दिया है। यहां वर्षा आधारित खेती होती है। यहां कोदो, कुटकी, सांवा, काकुन, मक्का, ज्वार और बाजरा जैसे पौष्टिक अनाजों की खेती होती है। कुछ लोग देसी धान भी बोते हैं, जिससे उन्हें कुछ नकद राशि मिल जाती है।

पहाड़ पर मेलमा खेती

परसमनिया पहाड़ के क्षेत्र में मेलमा (मिश्रित) खेती होती है। जो बुंदेलखंड में मिलवां खेती कहलाती है। इसे आदिवासी आदिकाल से करते आए हैं। वे पीढ़ियों से देसी बीज बचाते और अगली पीढ़ियों तक सुरक्षित पहुंचाते आए हैं। उन्होंने इलाके की जलवायु, मौसम के अनुकूल फसलचक्र व बीजों की विविधता के मुताबिक खेती की संस्कृति को आगे बढ़ाया है। वे एकसाथ 6-7 फसलें लेते हैं। ज्वार के साथ अम्बाड़ी, अरंडी, अरहर से लेकर तिल, बरबटी, भिंडी, उड़द और मूंग की फसल बोई जाती है। यानी मल्टी लेयर (बहुपरती, बढ़ते से घटते क्रम में) खेती। ज्वार सबसे ऊंची (7-8 फुट), अरहर (5 फुट) अम्बाड़ी को (5 फुट) तिल, (4 फुट), भिंडी (4-5 फुट) और मूंग और उड़द (2-2 फुट) इत्यादि। अम्बाड़ी खेतों के किनारे लगाते हैं, जो खेत की बागुड़ (बाऊंड्री) का काम भी करती है। बरबटी का लतारूपी पौधा ज्वार पर चढ़ जाता था। कुछ किसान इसमें मक्का, ककड़ी और कांकुन भी बो देते हैं।

इसमें एक फसल दूसरी फसल को नुकसान नहीं पहुंचाती, बल्कि मददगार होती हैं। इन फसलों की अवधि में अंतर भी होता है। इसमें सबसे बड़ी ज्वार होती है, उसके बाद अरंडी व अरहर का नंबर आता है। जैसे ही ज्वार की फसल कटती है। अरंडी और अरहर के पौधों को फैलने और बढ़ने का मौका मिलता है। इसके बाद अम्बाड़ी का पौधा होता है, बरबटी भी इन्हीं पौधों से लिपटकर उसका फैलाव करती है। सबसे नीचे उड़द और मूंग के झाड़ीनुमा पौधे होते हैं।

चूंकि सभी फसलें अलग अलग समय में पकती हैं और कटती हैं अतएव इससे मिट्टी भी उपजाऊ बनी रहती है। क्योंकि फलीवाली फसलें नत्रजन का काम करती हैं, जिससे जमीन में बाहर से किसी भी प्रकार के खाद डालने की जरूरत नहीं पड़ती। इस तरह की खेती से मनुष्य के भोजन से लेकर मवेशियों के चारे जैसी जरूरतें पूरी हो जाती हैं। वैसे भी खेती से मनुष्यों और पशुओं का रिश्ता जुड़ा हुआ है।

पहले यहां लोग ज्वार की रोटी खाते थे। तिल से तेल की आपूर्ति होती थी। अम्बाड़ी से पशुओं के लिए रस्सी गेरमा (बांधने के लिए) बनाए जाते थे। अरंडी के फल व तेल के प्रकाश के काम आते थे। मूंग- उड़द से दाल हो जाती थी। भिंडी और बरबटी की सब्जी हो जाती थी। पिछले कुछ दशकों में यह नियम टूट गया था। परंतु अब फिर से इस फसलचक्र को बढ़ावा दिया जा रहा है।

मैदानी क्षेत्र, किसान और किसानी

मैदानी क्षेत्र में मुख्य रूप से गेहूं, धान और सोयाबीन की खेती होती है। यहां भी सिंचाई सीमित ही है। सिंचाई के लिए कुलगढ़ी जलाशय की नहरें हैं और नलकूप हैं। हाल ही में बरगी बांध की नहरें बनी हैं, जो अब तक चालू नहीं हुई हैं। कुर्मी, दाहिया, ब्राम्हण आदि कृषक जातियों के अलावा, यहां कुशवाह भी बड़ी संख्या में हैं। कुशवाह समुदाय के लोग सब्जियों की खेती करते हैं। गौरतलब है पहले भूजल स्तर इतना उथला था कि किसान हाथ से कुआं खोदकर सब्जियों की सिंचाई कर लेते थे। वह बारिश के दिनों में पुर (मिट्टी भर जाती थी) जाता था तो फिर से अगोर (खुदाई करना) लेते थे, लेकिन अब दिनोंदिन भूजल स्तर नीचे चला जा रहा है।

सूखा, पलायन और पारंपरिक खेती

पिछले कुछ समय से यह इलाका सूखा प्रभावित रहा है। वर्ष 2014 व 2015 में सूखे की जबरदस्त मार किसानों पर पड़ी थी। वर्ष 2015 में हैंडपंप तक सूख गए थे, तालाबों में पानी नहीं था, और खेतों में खड़ी फसलें सूख गई थीं। पीने के पानी की भी किल्लत थी। गांव के लोग रोजगार की तलाश में शहरों की ओर पलायन कर रहे थे। गांव में अधिकांश बुजुर्ग ही बचे थे। हालांकि पलायन यहां के लिए नई कोई बात नहीं है, लेकिन बार-बार के सूखे ने इसे बढ़ा दिया है। जंगलों की कटाई, तालाबों की उपेक्षा और लगातार खनन ने इस इलाके को सूखा क्षेत्र ही बना दिया है। इस दृष्टि से देसी बीजों में काफी विविधता है और उनमें कम पानी और सूखे में भी होने की क्षमता है। कुछ देसी बीज की फसलें ओस में भी पक जाती हैं। सूखा, आर्थिक संकट और प्रतिकूल मौसम के दौर में सर्जना संस्था की यह पहल बहुत महत्वपूर्ण और उपयोगी साबित हो रही है। देसी बीजों से खेती करने से किसानों की भोजन व खाद्यसुरक्षा बेहतर हुई है।

बाबूलाल दाहिया बताते हैं कि फसलों के उचित दाम नहीं मिलने से भी ग्रामीण पलायन करते हैं। इस समस्या के मद्देनजर उनकी संस्था ने किसानों की फसल को उचित दाम पर बिक्री करवाने की कोशिश की है। वे देश के कई बड़े शहरों में किसानों की उपज बिकवाने का प्रबंध भी करते हैं।

सर्जना सामाजिक, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक मंच

पद्मश्री बाबूलाल दाहिया मूल रूप से बघेली के कवि और साहित्यकार हैं। वह पेशे से पोस्टमास्टर थे। वर्तमान में सतना जिले के उचहेरा प्रखंड के पिथौराबाद गांव में रहते हैं। भारत सरकार ने उन्हें देसी बीजों के संरक्षण के लिए वर्ष 2019 में पद्मश्री से सम्मानित किया है। उन्होंने संस्था का पंजीयन वर्ष 2003 में करवाया। उनकी लोक साहित्य और संस्कृति में गहरी रूचि है। वे बताते हैं कि पहले लोकगीत, लोकोक्तियां, मुहावरे और लोक साहित्य का संकलन व सृजन करते थे। परंतु जब उन्होंने यह महसूस किया कि बहुतेरा लोक साहित्य, मुहावरे व लोकोक्तियां स्थानीय अनाजों पर हैं, उन्हें लगा कि यह बीज सिर्फ साहित्य में नहीं बल्कि खेतों में उपज के लिए भी बचाना जरुरी है। अत: संपूर्ण संस्कृति को बचाने के लिए पारंपरिक खेती और देसी बीजों को बचाना होगा और उससे जुड़े लोक साहित्य को भी। अत: अब वे लगातार अपनी संस्था सर्जना सामाजिक, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक मंच के माध्यम से इस काम में जुटे हैं।

सर्जना संस्था ने पहाड़ी और मैदानी, दोनों क्षेत्रों को अपना कार्यक्षेत्र बनाया है। पहाड़ी क्षेत्रों में महिला किसानों के माध्यम से पारंपरिक खेती को बेहतर बनाने की कोशिश की है। उनके स्वसहायता समूह बनाकर पारंपरिक खेती की है तथा वहां बीज बैंक भी बनाए हैं। उन्हीं से जैव कीटनाशक व केंचुआ खाद बनवाई है। इससे एकतरफ तो देसी बीजों का संरक्षण हुआ है और सूखे के दौर में किसानों को बीज उपलब्ध हुए हैं वहीं दूसरी तरफ किसानों की उपज की बाजार में अच्छे दामों में बिक्री करवाई है, जिससे कमाई का जरिया भी बेहतर हुआ है। मैदानी क्षेत्रों में धान के देसी बीजों की खेती का प्रचार-प्रसार किया है। संस्था की ओर से हर साल बीज महोत्सव किया जाता है, जिसमें बड़ी संख्या में किसान आते हैं। इसमें देसी बीजों की प्रदर्शनी लगाई जाती है और देसी अनाजों की जानकारी का आदान-प्रदान किया जाता है। इन्होंने न केवल पारंपरिक देसी बीजों का संरक्षण व संवर्धन किया है बल्कि इलाके की समूची जैवविविधता के संरक्षण पर जोर दिया है, जिसमें जड़ी-बूटी और दुर्लभ पौधों का संरक्षण भी शामिल है।

धान की 200 किस्में, गेहूं की 15

बाबूलाल दाहिया बताते हैं कि वह वर्ष 2005 में मध्यप्रदेश राज्य जैवविविधता बोर्ड से जुड़े हैं। उस समय बोर्ड के सचिव बी.एम. राठौर थे। उन्होंने खेती से संबंधित लोक साहित्य- जैसे लोकोक्तियां, मुहावरें व कहावतों का संकलन व लेखन करने के लिए प्रेरित किया। इस संबंध में गांव-गांव में किसानों व बुजुर्गों के पास जाकर यह संकलन किया, जिसे मध्यप्रदेश राज्य जैवविविधता बोर्ड ने 'समानता के भाती' शीर्षक से प्रकाशित (वर्ष 2011) किया। इसके बाद पिथौराबाद गांव में देसी बीज बैंक की स्थापना की गई। इसमें भी जैवविविधता बोर्ड ने आर्थिक सहयोग दिया। यहां देसी धान की 200 किस्में, गेहूं की 15 किस्में और चना की 5 किस्में संग्रहित हैं। इसके अलावा, सांवा, ज्वार, कोदो, कुटकी की किस्में भी हैं। कई प्रकार की सब्जियों के बीज भी यहां संग्रहित हैं। गौरतलब है मध्यप्रदेश राज्य जैवविविधता बोर्ड जैवविविधता संरक्षण के साथ परंपरागत ज्ञान आधारित जागरुकता पैदा करने के लिए प्रयासरत है।

सतना जिले के उचेहरा प्रखंड में है पिथौराबाद गांव। यहां के पहाड़ पूरी तरह से वृक्षहीन हो रहे हैं। लगभग 5 हजार की आबादी वाला बड़ा गांव है। वैसे तो यह भी आम गांवों की तरह है, लेकिन बाबूलाल दाहिया व उनकी संस्था के देसी बीजों और जैवविविधता के कारण यह खास बन गया है। बाबूलाल दाहिया ने बताया कि उनकी 8 एकड़ जमीन है जिसमें से 2 एकड़ में देसी धान का प्रयोग कर रहे हैं। बाकी 6 एकड़ में भी देसी किस्में लगाते हैं, वह भी बिना किसी रासायनिक खाद और कीटनाशक के। अब उनके पास धान की 200 देसी किस्मों के बीज मौजूद हैं। उन्होंने धान की देसी किस्मों के गुणधर्मों का अध्ययन किया है।

उन्होंने संग्रहालय में धान की किस्में दिखाईं। वे रजिस्टर के पन्नों पर करीने से चिपकाई गई थीं। रंग-बिरंगे धान बीज लुभा रहे थे। इनमें काफी विविधता थी। दाहिया जी ने बताया कि इनमें से किसी धान का दाना सफेद होता है तो किसी का लाल। किसी का काला तो किसी का बैंगनी, किसी का मटमैला। कुछ का दाना पतला तो किसी का मोटा, और कोई दाना गोल तो किसी का दाना लंबा। कुछ धान की किस्मों के पौधे हरे होते हैं तो किसी के बैंगनी। इनमें से न केवल दिखने में विविधता है बल्कि स्वाद में भी विविधता है। इन धान किस्मों में कुछ सुगंधित हैं तो कुछ बिना सुगंध की। इनमें कम अवधि में पकने वाली किस्मों से लेकर लंबी अवधि की किस्में भी हैं। हल्की और कम भराव वाली जमीन में 70 से 75 दिन में पकने वाली सरया, सिकिया, श्यामजीर, डिहुला, सरेखनी किस्में हैं तो मध्यम समय में 100 से 120 दिन में पकने वाली नेवारी, झोलार, करगी, मुनगर, सेंकुरगार आदि हैं। इसके अलावा, 120 से 130 दिनों में पकने वाली बादल फूल, केराखम्ह, विष्णुभोग, दिलबक्सा आदि धान शामिल हैं। लैला-मंजनू धान में दो सफेद दाने निकलते हैं। कलावती का पत्ता काला होता है। गांजाकली अधिक उत्पादन देती है। अलग-अलग किस्मों को बोने के भी विशेष कारण हैं। किसान वही धान अपने खेत में बोता है, जैसा खेत मांगता है। यानी हल्की जमीन वाला खेत है तो जल्दी पकने वाला धान बोएगा। इससे स्थानीय किसान के वैज्ञानिक दृष्टिकोण और ज्ञान का भी पता चलता है।

कुछ धान की किस्में ऐसी होती हैं कि जिन्हें किसान घर में खाने के लिए बोता है। बजरंगा ऐसी ही धान है, जो जल्द हजम नहीं होती। कुछ धान की किस्में ऐसी होती हैं कि जिन्हें किसान बाजार में बेचने के लिए उगाता है, जिससे उपज का अच्छा दाम मिल सके। ऐसी धान की किस्मों में गांजाकली, निबारी और कोसमखंड और लचई हैं। कुछ ऐसी धान हैं जिन्हें आतिथ्य सत्कार के लिए बोया जाता है। इनमें कमलश्री, तिलसांड, विष्णुभोग और बादशाह भोग है। जंगली सुअर से फसल बचाने के लिए ऐसा धान बोते हैं जिनमें कांटे होते हैं। इससे जुड़ी कहावत भी है- 'धान बोवै करगी, सुवर खाय न समधी।' यानी किसान को करगी धान बोना चाहिए क्योंकि इसकी बाली में कांटे होने के कारण इसे सुअर नहीं खाते, क्योंकि उसके मुंह में कांटे गड़ते हैं। और इसका चावल लाल होता है इसलिए समधी को भी नहीं खिलाया जाता! है ना बेहद मजेदार!

देसी धान की खासियत बताते हुए दाहिया जी कहते हैं कि वह स्वादिष्ट होता है, इसलिए बाजार में दाम भी अच्छा मिलता है। देसी धान ऋतु के प्रभाव से पक जाता है। जैसे कोई एक ही किस्म की धान अलग-अलग समय में बोई जाए तो वे एक ही समय में पककर तैयार हो जाती हैं। इसमें ज्यादा कीट रोग नहीं लगते। अगर कीट प्रकोप हो तो जैव कीटनाशक बनाकर छिड़काव किया जा सकता है। घर की बनी गोबर खाद या केंचुआ खाद डाली जा सकती है। इसमें किसी भी प्रकार की लागत नहीं आती। घर का बीज, खुद के परिवार की मेहनत और देखरेख से फसल पककर तैयार हो जाती है। दाहिया जी बताते हैं कि देसी किस्मों में स्थानीय हवा-पानी के अनुकूल अपने आपको ढालने की क्षमता होती है। जैसे निरंतर सूखे से लड़ते और हजारों सालों से इस भूमि में उगते- उगते देसी धान ने अपना ठंडल बड़ा कर लिया है जिससे वह अपने पौधे में अधिक पानी का संचय कर सके। बाद में बाली आने के पश्चात वह ओस में ही पक जाती है। बाहर से आयातित बौनी किस्मों में यह गुण नहीं है।

खेती की लागत कम

दाहियाजी ने इस बार देसी गेहूं पर प्रयोग किए हैं। यहां उन्होंने इस बार गेहूं की 14 किस्में लगाई हैं और अब वह उनके गुणधर्मों का अध्ययन कर रहे हैं। वे इन किस्मों को मध्यप्रदेश के अलग-अलग जिलों से लेकर आए हैं। इन किस्मों के नाम हैं- कठिया, कठुई, सरवती, हंसराज, ग्वाला, बंसी, खैरा,, मुंडी पिसी, पैगंबरी, खापली, काला गेहूं, काला सेंकर और बसिया। कुछ गेहूं ऐसे हैं जिनके नाम पता नहीं हैं। इसके अलावा, देसी चना की 5 किस्में बोई गई थीं। काला चना, चनौली, काबुली, करवरिहा और देसी चना। खेत में लाल फूल वाली अलसी की निराली छटा थी। दाहिया जी ने बताया कि इनमें से गेहूं की कुछ किस्में बिना पानी और कम पानी में पक कर तैयार हो जाती हैं। खेती रासायनिक न होने से खेती की लागत न के बराबर है। सिर्फ ट्यूबवेल से पानी देते हैं, बिजली बिल का खर्च ही प्रमुख है। यह देसी किस्में इस सूखे इलाके के लिए उपयुक्त हैं।

स्थानीय किसान रामलोटन कुशवाहा सर्जना संस्था के सहयोग से जड़ी-बूटी और विविध प्रकार की सब्जियों की खेती करते हैं। उन्होंने नर्सरी भी तैयार की है, और उसमें पौधे तैयार कर बेचते हैं। कई बार तो वन विभाग भी उनसे पौधे खरीदता है। वहां करीब 36 प्रकार की जड़ी-बूटियों, फलदार वृक्षों व सब्जियां पर कार्य होता है उनके पास लौकी और सेमी की कई किस्में हैं। इनमें से कई किस्में व पौधे ऐसे हैं, जो लगभग लुप्त हो गए हैं या फिर दुर्लभ हैं।

आदिवासी महिला किसानों का योगदान

परसमनिया पहाड़ के गांवों में खेती के काम के लिए कई महिला स्वसहायता समूह बनाए गए हैं। चूंकि अधिकांश पुरुष खाने-कमाने के लिए पलायन कर जाते हैं अतएव खेती करने की जिम्मेवारी महिलाओं पर आ गई है। हालांकि महिलाएं ही पीढ़ियों से खेती का अधिकांश काम करती आ रही हैं। वह बीजों की सुरक्षा, विविधता और गुणवत्ता को सहेजने का काम करती रही हैं। यहां दो गांवों डबरा और अमदरी गांव में बीज बैंक बनाए गए हैं। इस बीज बैंक से सूखा व प्रतिकूल मौसम के समय 30 गांवों के किसानों को बीज दिया जाता है जिसे फसल होने पर सवाया लौटाया जाता है। इसमें से कुछ बीज बैंकों में जमा कर दिया जाता है।

यहां जीवामृत, कालापानी, केंचुआ खाद आदि तैयार करने का प्रशिक्षण दिया गया है। सरस्वती महिला समूह, जय बड़ा देव बाबा समूह, कोरदरनाथ समूह, सताइन माता समूह बनाए गए हैं। इन सभी समूहों के नाम आदिवासियों के देवी-देवताओं के नाम पर रखे गए हैं।

पिछले वर्ष महिला किसानों को एक एकड़ खेत में उगाने के लिए देसी धान लोचई, धनाश्री, बोहिता, सरइया आदि दी गई थी। घरेलू खर्च (भोजन के लिए) के लिए रखकर जो अतिरिक्त धान शेष बचा, उसे अच्छे दामों पर बिकवाने का प्रबंध किया गया था। धान की बिक्री दिल्ली, पश्चिम बंगाल, चेन्नई और बंगलौर आदि शहरों में की गई। धान की औसत पैदावार 10-12 क्विंटल प्रति एकड़ रही है। दाहिया कहते हैं कि हम बाजार से ज्यादा दाम देकर उनकी उपज खरीदते हैं और बिकवाते हैं। संस्था ने धान 2500 पए क्विंटल में खरीदा था।

वह बताते हैं कि इस प्रयास से महिलाओं का खेती से जुड़ा पारंपरिक ज्ञान भी वापस लौट रहा है,जो लोप हो रहा था। यहां बीज बैंक में उन्होंने मिट्टी के कुठले (कोठी) बनाए हैं। उनमें कई तरह के बीज सुरक्षित रखे हैं। लौकी के खोल में बीज रखे हैं। बीजों के सुरक्षित भंडारण के पारंपरिक तौर-तरीके अपनाएं हैं। गांवों में बीजों का चयन, बीज संरक्षण, बीजों के रखरखाव के साथ उनके विकास में महिलाओं का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। यह काम परसमनिया पहाड़ के महिला समूहों ने बखूबी किया है।

कुल मिलाकर, सतना जिले के इस इलाके में विविधतापूर्ण देसी बीजों को बढ़ावा दिया जा रहा है। उनका संरक्षण व संवर्धन किया जा रहा है, बीजों का आदान-प्रदान किया है, बीजों की अदला-बदली के साथ

संस्कृति व विरासत से जुड़े परंपरागत ज्ञान का भी आदान-प्रदान किया जा रहा है। इसके माध्यम से जलवायु बदलाव व प्रतिकूल मौसम के इस दौर में ऐसे देसी बीजों से खेती की जा रही है, जो कि कम पानी, बिना पानी या सूखे में भी पक कर तैयार हो जाते हैं।

देसी बीजों की खेती से आदिवासियों की भोजन की उपलब्धता व खाद्यसुरक्षा बेहतर हुई है जो सूखे व बौनी किस्मों के कारण नहीं हो पा रही थी। यह न केवल पौष्टिकता की दृष्टि से उपयुक्त है, बल्कि बाजार में इसके दाम भी अच्छे मिलते हैं। इस काम से यह भी सीखा जा सकता है कि बीजों की विविधता से छोटे किसानों की आजीविका सुरक्षित की जा सकती है। जैवविविधता आधारित खेती से लोगों को रोजगार, अच्छा पोषण, बेहतर गुणवत्ता का भोजन और आय बढ़ाने का मौका मिल सकता है। आज ऐसी ही खेती की जरूरत है जो मिट्टी पानी का संरक्षण करते हुए जीविकोपार्जन भी करती हो। बाबूलाल दाहिया व उनकी संस्था ने यह करके दिखाया है।

इस पूरे काम में भारत सरकार के जैवविविधता अधिनियम के तहत् बने मध्यप्रदेश जैवविविधता बोर्ड ने महती भूमिका निभाई है। उन्होंने न केवल सर्जना संस्था और दाहिया जी को एक मंच प्रदान किया, बल्कि उनके माध्यम से पूरे मध्यप्रदेश में देसी बीजों का जागरूकता अभियान चलाया। जैव विविधता बोर्ड के सहयोग से मध्यप्रदेश में वर्ष 2018 में बीज बचाओ- खेती बचाओ यात्रा की थी। इस दौरान वे लगभग 35 जिलों में गए थे और वहां के किसानों को देसी बीजों की खेती के लिए प्रोत्साहित किया था। यानी ऐसे कामों में सरकार का सहयोग होना बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकता है।

संस्था ने और दाहिया जी ने लुप्त होते देसी बीजों को सहेजने का काम किया है। इससे आदिवासी महिलाओं का सशक्तीकरण का काम हुआ है। देसी बीजों की खेती चूंकि श्रम आधारित है, इसलिए यह काम महिलाएं आसानी से कर पाती हैं। बघेलखंड जिस गंभीर सूखा, आर्थिक संकट और प्रतिकूल मौसम के दौर से गुजरा है, उसमें देसी बीजों की खेती को प्रोत्साहित करने की जरूरत और बढ़ गई थी। इस सूखे और संकट के दौर में सर्जना ने गांवों में बीज बैंक स्थापित करने की महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इस कठिन दौर में वह उपयोगी सिद्ध हुई है। उम्मीद की जानी चाहिए कि लगभग बिना लागत वाली देसी बीजों की खेती और इसका संरक्षण भविष्य में किसानों के आर्थिक संकट से बचने का बेहतर उदाहरण प्रस्तुत करेंगे।

निष्कर्ष : बघेलखंड का यह छोटा सा गांव जो संभव करके दिखा रहा है, वह कार्य अरबों-खरबों रुपए का व्यापार करने वाली बहुराष्ट्रीय बीज कंपनियों की सोच से बहुत आगे की स्थिति है। आज बहुराष्ट्रीय बीज कंपनियां हाईब्रीड से आगे जाकर जी.एम. बीजों के प्रसार में जुट गई हैं और कमोवेश पूरी दुनिया की जैव व् खाद्य विविधता को एकरूपता में ढाल देना चाहती हैं, बिना इसके दुष्परिणामों की चिंता किए हुए। इसकी वजह है उनकी असीम लाभ आकांक्षा। वहीं यह छोटा सा दिखने वाला प्रयास संभवत: पूरी दुनिया को आइना दिखा रहा है कि अंततः हमें बीज इस तरह से विकसित करने ही होंगे जो कि स्थानीय मिट्टी और जलवायु के लिये उपयुक्त और अनुकूल हों। ज्ञातव्य है पारंपरिक खेती हर खेत के लिए उसकी तासीर के हिसाब से बीज उपलब्ध करवाती थी।

Dabur
गुग्गल संरक्षण एवं आजीविका
परियोजना (CSR) के तहत पौधारोपण
सुजागृती समाज सेवी संस्था, मुरैना (म.प्र.)
आयोजक – सुजागृती समाज सेवी संस्था
सहयोग – जीवंती वेलफेयर एण्ड चेरिटेबल ट्रस्ट

सुजागृति

गुग्गुल के प्रति अनूठी 'सुजागृति'

6 नवंबर, 1926 को बुडापेस्ट में रवीन्द्रनाथ टैगोर ने वृक्षारोपण किया और एक कविता लिखी थी। उसका भावार्थ यह था कि, 'मैं जब पृथ्वी पर नहीं रहूंगा उस समय मेरा लगाया हुआ यह वृक्ष बसंत रूप में नए-नए पत्ते (नए विचारों) से युक्त हो जाएगा और आने-जाने वाले पथिकों के कान में संदेश देगा कि एक कवि ने इस धरती को प्यार किया था।'

मध्यप्रदेश के मुरैना जिले में बड़े पैमाने हो रहा गुग्गल वृक्षारोपण एक किस्म का सामूहिक गान है। मुरैना में एक अपराधी को साथ लेकर जिस तरह से गुग्गल के पेड़ों को तबाह किया गया वह वास्तव में हमारे भविष्य के लिए संकट पैदा कर गया है। आयुर्वेदिक औषधीय पौधे पर रासायनिक प्रयोग वास्तव में हैरान कर देने वाला उपक्रम है। मुरैना मध्यप्रदेश के बड़े जिलों में से है। इसकी आबादी करीब 13 लाख होगी। परंतु यहां स्त्री-पुरुष अनुपात काफी असंतुलित है। सन् 2011 की जनगणना के अनुसार यहां पुरुषों की संख्या 7,07,470 थी और महिलाएं 5,71,610 यानी एक असाधारण परिस्थिति। बेहद प्रतिकूल परिस्थिति में श्री जाकिर हुसैन और उनके द्वारा गठित सुजागृति संस्था बहुत ही साहसपूर्ण और महत्वपूर्ण कार्य कर रही है।

हमें यह समझना होगा कि उत्पादन के बाकी सभी आयाम इंतज़ार कर सकते हैं, अस्थायी तौर पर और आंशिक तौर पर कार्यरत रह सकते हैं, लेकिन कृषि में ऐसी कोई सुविधा प्राप्त नहीं है। इसमें प्रत्येक काम एकदम ठीक समय पर और सुरुचिपूर्ण तरीके से होना ही चाहिए। भारत में खेती में असाधारण विविधता है। खाद्यान्न से लेकन उद्योगो में काम आने के और औषधियों में कार्य आने वाले अनेक उत्पाद कृषि के माध्यम से ही हमें प्राप्त होते है। गुग्गल या गूगल ऐसा ही एक औषधीय कृषि उत्पाद है। यूं तो भारत में गुग्गुल (Indian Murrh) की सालाना खपत करीब तीन हजार टन है, लेकिन यहां उत्पादन महज दस टन ही हो पाता है। अतएव इसकी उपयोगिता का ज्यादातर हिस्सा आयात करना पड़ता है। यह औषधीय कृषि उत्पाद एकतरह से विलुप्ति की कगार पर पहुंच गया है। जबकि इस पौधे के संरक्षण से कई उद्देश्यों की पूर्ति एक साथ हो सकती है। मध्यप्रदेश में मुरैना का बीहड़, गंगा के मैदान का दक्षिणी सीमा पर स्थित एक प्रमुख भू-भाग है। इसे नदियों मुख्य रूप से चंबल और सोन नदियों ने अपने बीच के भू-भाग को बुरी तरह से काट दिया है। नदियों द्वारा काटे गए इस भू-भाग को 'बीहड़' कहते हैं। लंबे समय तक यह डाकुओं की आश्रयस्थली रही है। ऊबड़खाबड़ यह अंचल सामान्यतया कृषि के अनुकूल नहीं है। बीहड़ में जन्मे और पले-बढ़े समाजसेवी जाकिर हुसैन ने इस बात को समझा और अपना पूरा जीवन ही गूगल संरक्षण और संवर्धन में लगा दिया। सुजागृति संस्था के माध्यम से उन्होंने पर्यावरण संरक्षण का एक बड़ा काम किया है.

'गुग्गुल का हो संरक्षण, तब होगा मानव रक्षण' यहां यह कहावत इसलिए प्रचलित है, क्योंकि जैसे सब्जियों का राजा आलू है, फलों का राजा आम है, इसी तरह आयुर्वेद में औषधियों का राजा गुग्गुल है। गुग्गुल से 60 बीमारियों का इलाज होता है। गुग्गुल के पौधे की आयु 70 साल है, इसलिए यह किसानों की दीर्घकालीन आजीविका का भी अच्छा स्रोत है। 'गुग्गुल' एकप्रकार का वृक्ष ही है। इससे प्राप्त राल जैसे पदार्थ को ही 'गुग्गुल' गोंद कहा जाता है। भारत में इस जाति के दो प्रकार के वृक्ष पाए जाते हैं। एक को कॉमिफ़ोरा मुकुल (Commiphora mukul) तथा दूसरे को कौमीफोरा बाईटी (C. Wightii) कहते हैं। हमारे वहां कौमीफोरा बाईटी प्रजाति की गुग्गुल अधिक मिलती है। गुग्गुल का पेड़ तीन से चार मीटर तक ही ऊंचा होता है। इसके पत्ते छोटे और एकांतर और सीधे होते हैं। यह सिर्फ वर्षा ऋतु में ही बढ़ता है और इसी समय इस पर पत्ते दिखाई देते हैं। शेष समय यानि सर्दी तथा गर्मी के मौसम में इसकी वृद्धि रुक जाती है। पौधे पर्णहीन हो जाते हैं। उसी दौरान इसके तने से सफेद रंग का दूध निकलता है जो इसका का उपयोगी भाग है। इसी से औषधियां बनती हैं। (कुछ ऐसा ही अफीम के पौधों के साथ भी होता है। मगर उनके फूल या डोडे में चीरा

लगाकर रस (गोंद) इकटठा किया जाता है उसकी औषधि बनती है। यह मध्यप्रदेश के नीमच और मंदसौर में उपजाया जाता है। वैसे अफीम के पौधों को प्रतिवर्ष लगाना पड़ता है।) गुग्गुल गोंद का उपयोग 60 प्रकार की बीमारियों के उपचार में आता है। यह गोंद ही गुग्गुल नाम से प्रसिद्ध है। इससे महायोगराज गुग्गुलु, कैशोर गुग्गुलु, चंद्रप्रभा वटी आदि योग औषधि के रूप में बनाए जाते हैं। इसके अलावा त्रिफला गुग्गुल ,गोक्षरादि गुग्गुल, सिंहनाद गुग्गुल और चंद्रप्रभा गुग्गुल आदि योगों में भी यह प्रमुख द्रव्य प्रयुक्त होता है। प्राकृतिक रूप से गुग्गुल भारत के मध्यप्रदेश, कर्नाटक, राजस्थान तथा गुजरात राज्यों में उगता रहा है। मध्यप्रदेश के चम्बल के बीहड़ों में कभी गुग्गुल की अच्छी पैदावार होती थी, पर वहां भी यह विलुप्ति की कगार पर पहुंच गया। इस विलुप्ति की एक कहानी भी बड़े बुजुर्ग सुनाते हैं।

उनके अनुसार कोई चार से पांच दशक पहले मुरैना जिले में गुग्गुल बहुत अधिक मिलता था। इसके 10 से 12 फीट ऊंची और अच्छी मोटाई के पौधे पाए जाते थे। फिर चंबल में रूपा सिंह डकैत सजा काटकर बाहर आया तो किसी ने उससे कहा कि आपका बीहड़ क्षेत्र में दबदबा है, आप हमें गुग्गुल का गोंद निकलवा दीजिए। दोनों की आधी-आधी हिस्सेदारी होगी। सौदा हो गया। उन्होंने श्योपुर, मुरैना भिंड तीनों जिले के बीहड़ क्षेत्र के पेड़ों में रसायन लगाकर गुग्गुल वृक्ष में चीरा लगवाना शुरू कर दिया। रसायन के प्रयोग से एक पेड़ से एक बार में एक से डेढ़ किलो गोंद तो निकलता था किंतु उसकी वजह से वह पेड़ मर जाता था।

किसान द्वारिका सिंह गुर्जर बताते हैं कि यह घातक प्रक्रिया करीब 2-3 साल चलती रही। इसकी वजह से सभी बड़े-बड़े पेड़ धराशाई हो गए। उन्होंने बताया कि तब जो पेड़ तब छोटे थे वह बचे रह गए वही कुछ साल बाद बड़े हो गए, ऐसे में थोड़े बहुत पेड़ बच गए। किंतु स्थानीय लोग रासायनिक प्रक्रिया से चीरा लगाना सीख चुके थे। इतना विनाश हो जाने के बाद भी स्थानीय समुदाय ने कोई सबक नहीं सीखा कि सोने के अंडे देने वाली मुर्गी का पेट-चीरकर अंडे निकालने का क्या परिणाम होगा? लोग अपने तात्कालिक स्वार्थ के चलते अपरिपक्व पेड़ों पर रसायन लगाकर चीरा लगाने लगे और गुग्गुल लुप्त होने के कगार पर आ गई।

चम्बल के बीहड़ों के ही एक गांव बामसौली में जन्मे जाकिर हुसैन ने जब चंबल नदी के पास बीहड़ में गुग्गुल पेड़ों को देखा तो उन्हें वे भा गए। उन्होंने ग्रामीणों से इन पर चर्चा की और ग्रामीण किशोरी लाल से गुग्गुल के वृक्ष की जानकारी ली और पूछा एक पेड़ से कितना गोंद निकलता है? उन्होंने बताया कि 'साहब जी यहां अब कुछ नहीं बचा। बीहड़ के कटाव और विनाशकारी दोहन ने सब खत्म कर दिया।' इसके बाद जाकिर ने

गुग्गुल के बारे में विस्तृत अध्ययन करा। अपने वैज्ञानिक मित्रों, वन विभाग के अधिकारियों और स्थानीय व्यापारियों से परामर्श लिया और संकल्प ले लिया कि वह गुग्गुल को संरक्षित व संवर्धन करने हेतु अपना जीवन लगा देंगे। इस संकल्प को पूरा करने के लिए 'सुजागृति समाज सेवी संस्था' की स्थापना की गई। लोग इसमें जुड़ते गए और धीरे-धीरे संकल्प को मदद मिलने लगी।

इसी बीच सन् 2004 में जैवविविधता बोर्ड के सदस्य सचिव श्री बी एम एस राठौर से संपर्क हुआ। जाकिर बताते हैं कि उनके विचारों और काम ने मुझे प्रभावित किया। उनके प्रशिक्षण एवं जैवविविधता की अवधारणा से मेरे मन मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव पड़ा। जैवविविधता की बैठक सेमिनार व वर्कशॉप में भाग लेकर मुझे दो मूल समस्याओं का समाधान ढूंढने का विचार आया। पहला बीहड़ के कटाव को रोका जाए और दूसरा

गुग्गुल के संरक्षण के लिए इसका वृक्षारोपण किया जाए। बीहड़ों में पालन-पोषण होने से हम यहां के इलाके व यहां की परिस्थितियों से भलीभांति परिचित थे, इसलिए हमारे लिए यह काम आसान हुआ। मुरैना जिले की यह दोनों ही समस्याएं हमारा महत्वपूर्ण कार्य बनी। सन 2004 में दोनों बिंदुओं पर जो कार्य शुरू हुआ था वह आज भी हमारे जीवन का ध्येय बना हुआ है।

इस काम में सेंटर फॉर एनवायरमेंट एजुकेशन दिल्ली से भी मदद मिली। बीहड़ और उपजाऊ भूमि के बीच डोरबंदी कार्य किया। जिससे 20 वर्ष तक बीहड़ आगे नहीं बढ़े। इस दौरान 10000 गुग्गुल पौधों का वृक्षारोपण किया। संस्था का संकल्प था कि ज्यादा से ज्यादा लोग गुग्गुल की नर्सरियां लगाएं तथा वृक्षारोपण करें। इसके लिए हमने ग्रामीणों को प्रशिक्षण दिए और अपने अनुभव का लाभ किसानों को दिया। उन्होंने नर्सरी बनाई साथ ही सीखा कैसी नर्सरियां लगाई जाती हैं ? कैसे वृक्षारोपण किया जाता है? पेड़ में चीरा कैसे लगाया जाए? गोंद कैसे निकालें? कैसे इसका भंडारण करें?

सन 2008 से मुरैना जिले में गुग्गुल संरक्षण एवं संवर्धन परियोजना चलाई जा रही है। इस परियोजना के अंतर्गत मुरैना के बीहड़ में पाए जाने वाले गुग्गुल पौधों के संरक्षण एवं वैज्ञानिक विदोहन (Harness) पर कार्य किया जा रहा है। जाकिर हुसैन बताते हैं कि मुरैना में बढ़ते बीहड़ और घटती हुई उपजाऊ भूमि के कारण यहां की 35000 हेक्टेयर भूमि बीहड़ में परिवर्तित होकर बेकार पड़ी है। बीहड़ों में खेती नहीं होने से वहां के किसानों की आर्थिक स्थिति जर्जर हो चुकी है, लेकिन गुग्गुल यहां के लिए वरदान की तरह है। हमारी कोशिश है कि इस इस बीहड़ में बड़ी मात्रा में गुग्गुल की पैदावार हो। इसके माध्यम से यहां पर आर्थिक खुशहाली की राह पर संस्था काम कर रही है। जाकिर बताते हैं कि इस ग्लोबल वार्मिंग के समय में हमारी जो जमीन बीहड़ में बेकार पड़ी हुई है, वह बेहद उपयोगी साबित हो रही है। विशेष बात यह है कि गुग्गुल को पशु भी नहीं खाते हैं तथा इसे पानी की भी जरुरत नहीं है। उनका अनुमान है कि यदि इन बीहड़ों में ही गुग्गुल की खेती की जाए तो पूरे भारत की जरुरत पूरी हो सकती है और एक विलुप्त होती हुई वनस्पति प्रजाति भी बच सकती है। बीहड़ का कटाव भी रुक सकता है जो कि पर्यावरण की दृष्टि से बहुत अच्छा है

और इससे भूमिहीनों एवं बेघर हुए किसानों को आजीविका का साधन भी उपलब्ध हो सकता है। सुजागृति संस्था ने इसकी नर्सरियां बनाई गई हैं। किसानों को पौधे को नुकसान पहुंचाए बिना इसका गोंद निकालने की ट्रेनिंग भी दी जा रही है। भंडारण और मार्केटिंग की व्यवस्था बनाई गई है। जैव विविधता बोर्ड, वन विभाग, एनएमपीबीन्यू दिल्ली, जवाहरलाल नेहरू कृषि विश्वविद्यालय जबलपुर, आरसीएफसी जबलपुर, जिला पंचायत, बीएमसी, जेएफएमसी और स्वयं सहायता समूह के लोगों से संस्था को बहुत सहयोग प्राप्त हुआ है।

मुरैना जिले के आदिवासी और किसान भाई बहनों को गुग्गुल के पौधों में वैज्ञानिक तरीकों से चीरा लगाकर गुग्गुल गोंद निकालने की ट्रेनिंग दी जा रही हैं। उन्हें यह भी सिखाया जा रहा है कि गुग्गुल का रोपण और रखरखाव कैसे किया जाए तथा उसका संरक्षण कैसे हो ताकि मुरैना में चंबल के बीहड़ों में गुग्गुल को संरक्षित और संवर्धन किया जा सके। संस्था के इन प्रयासों से बीहड़ों में गुग्गुल को बचाया जा सका है तथा इनके द्वारा विकसित नर्सरी तकनीक से यहां के गुग्गुल संग्राहक गुग्गुल के नए पौधे विकसित कर उन्हें बेचकर किसान अपना जीवनयापन कर रहे हैं। जाकिर बताते हैं कि गुग्गुल संरक्षण से चार उद्देश्यों की पूर्ति हो रही है। पहला गरीबों की आजीविका सुनिश्चित हुई है, दूसरा बीहड़ का कटाव रुका है, तीसरा पर्यावरणीय लाभ हुआ है और चौथा नौ सौ कंपनियों की मांग की पूर्ति के साथ-साथ संकटमय प्रजाति का संरक्षण भी हुआ है।

मुरैना से 90 किलोमीटर दूर जाबरोल गांव है, यहां के किसान अहसान अली जैवविविधता प्रबंधन समिति के अध्यक्ष हैं। अली की शुरू से ही पौधों के संरक्षण में रुचि है। संस्था ने उन्हें गुग्गुल संरक्षण के लिए प्रेरित किया, लेकिन अली का सवाल था कि यदि गुग्गुल की खेती की भी जाए तो उसे खरीदेगा कौन? इसका भी जवाब संस्था के पास था। जाकिर ने उन्हें बताया कि संस्था का कुछ कंपनियों के साथ करार हुआ है, यदि गांव में एक कलेक्शन सेंटर बन जाए तो कंपनी सीधे आकर किसानों से खरीदी कर सकती है। संस्था ने किसानों की यह चिंता भी दूर की, इससे किसानों का हौसला बढ़ा। सन 2019 में कलेक्शन सेंटर खोला गया। इससे विक्रय आसान हुआ। कलेक्शन सेंटर के माध्यम से अब तक गुग्गल के 100000 पौधे तथा 50 टन अग्निमथ, 1 टन गुग्गुल गोंद और कई अन्य औषधियों का विक्रय किया जा चुका है, जिससे किसानों के जीवनस्तर में सुधार हुआ है।

साथ इसी के दूसरी औषधीय फसलों के लिए भी किसानों को प्रेरित किया गया है। सन 2020 में संस्था ने किसानों अश्वगंधा की खेती करने के लिए प्रेरित किया। जाकिर अली ने खुद 2 बीघा भूमि में अश्वगंधा की खेती की। जिसका बहुत ही अच्छा मुनाफा हुआ। इसके बाद उन्होंने अश्वगंधा के बीजों का ही ₹25000 में विक्रय किया। इसके बाद अश्वगंधा की खेती बड़े पैमाने पर शुरू हुई।

सबलगढ़ तहसील के ग्राम बामसौली में धीरेंद्र सिंह जादौन एवं पांच अन्य किसानों के 1 हेक्टेयर खेत में मिश्रित खेती के एक मॉडल को संस्था ने विकसित किया है। इसमें 1000 गुग्गुल के पौधों के साथ अश्वगंधा भी लगाया गया है। पैठे के 3,500 बीजों को भी रोपा गया। यह जमीन असिंचित है। असिंचित जमीन के लिए यह मॉडल बड़ा महत्वपूर्ण साबित हुआ। फसल में इस सिंचाई की आवश्यकता ही नहीं है। इस माडल से किसानों की आय 4 गुनी की जा सकती है। जाकिर कहते हैं कि मुरैना जिले में ही 35000 हेक्टेयर बेकार पड़ी भूमि पर गुग्गुल लगा दी जाए तो पूरे देश की मांग पूर्ति की जा सकती है साथ ही गुग्गुल प्रजाति का संरक्षण एवं संवर्धन हो सकता है, किसानों की वैकल्पिक आजीविका का साधन बन सकती है.

इस कार्य से संस्था की पहचान बनी है। संस्था ने आयुष मंत्रालय भारत सरकार के विभिन्न प्रशिक्षण कार्यों में भी भाग लिया है। सुजागृति समाज सेवी संस्था, अंतर्राष्ट्रीय वन मेला भोपाल व ग्रीन हाट दिल्ली में भी हर साल स्टॉल लगाती हैं। गुग्गल की खेती को पुनर्जीवित करने की इस कोशिश को नए नजरिये से देखना जरुरी है। गौरतलब है भारत ने बेरोजगारी की दर लगातार बढ़ती जा रही है। कृषि पर भारत का पूरा आर्थिक आधार टिका हुआ है। पारंपरिक कृषि उत्पादों पर लाभ लगातार घटता जा रहा है। ऐसे में गुग्गुल जैसे अपारंपरिक कृषि उत्पादों पर एकाग्र करने के बेहद सकारात्मक परिणाम सामने आ सकते हैं। बंजर हो चुकी भूमि पर कृषि करना एक किस्म ठंडी बयार की तरह आएगा।

मशरूम

पृथ्वी ट्रस्ट

हीरों की धरती में 'मशरूम' बना सहारा

मध्यप्रदेश का पन्ना जिला बेहद विरोधाभासी सामाजिक-आर्थिक परिस्थिति वाला क्षेत्र है। एक और यहां सघन वन हैं, पन्ना बाघ अभ्यारण्य है तो दूसरी ओर बेहद पथरीली जमीन। भारत में यह एकमात्र स्थान है जहां भूगर्भ से बड़ी मात्रा में बहुमूल्य 'हीरा' निकलता है। वहीं दूसरी ओर यहां लाल पत्थर की बहुतायत है और उनकी खदानों में काम करने वाले, असुरक्षित खनन के चलते सिलिकोसिस जैसी लाइलाज बीमारी का शिकार होकर असमय मारे जा रहे हैं। इससे सामाजिक और आर्थिक विषमताएं लगातार बढ़ रहीं हैं। पन्ना भारत के सबसे कम व्यक्तिगत आमदनी वाले क्षेत्रों में शुमार है। साथ ही साथ यह क्षेत्र पिछले दो दशकों से कमोवेश लगातार सूखे की चपेट में भी रहा है। यहां से बड़े पैमाने पर पलायन भी होता है। ऐसी विषम परिस्थितियों में वैकल्पिक रोजगार के तौर पर 'मशरूम' की खेती को प्रचलन में लाना एक दूरदर्शी रणनीति है। अभी यह अपने प्रायोगिक स्तर पर ही है, लेकिन उम्मीद है भविष्य में इसके बेहतर परिणाम सामने आ सकते हैं।

पन्ना मुख्यालय से महज 15 किलोमीटर की दूरी पर बसा है रानीपुर गांव। यहां कोंदर आदिवासी परिवार निवास करते हैं। इनमें सोमवती कोंदर भी शामिल हैं। सोमवती परिवार के भरण पोषण के लिए लकड़ी बेचने के साथ-साथ पन्ना शहर में मजदूरी करती थी। साल 2021 से सोमवती ने मशरूम उत्पादन का काम शुरू किया। सोमवती ने घर में मशरूम के 80 बैग लगाए थे, जिनसे तीन माह तक मशरूम का उत्पादन हुआ। सोमवती कहती हैं...

'पहले घर में भोजन तभी बनता था जब हम मजदूरी करते और बाजार से खाने की सामग्री लेकर आते थे, लेकिन जब से मशरूम लगाने का काम किया है, तब से घर में भोजन की चिंता खत्म हुई। हम अपने घर में तीन माह तक मशरूम का उपयोग भोजन के तौर पर करते हैं और इसके अलावा हर साल 5 हजार की मशरूम बेच भी लेते हैं।'

मशरूम उनके लिए आजीविका का नया सहारा है, मगर यह केवल सोमवती की कहानी नहीं है। पन्ना जिले में काम करने वाली संस्था पृथ्वी ट्रस्ट यहां मशरूम की खेती से आजीविका का नया सहारा दे रही है।

हीरों की धरती पर महिलाओं को अपनी आजीविका के लिए मशरूम उत्पादन क्यों करना पड़ रहा है, यह समझने के लिए इस जिले की स्थितियों पर नजर डालते हैं। मध्यप्रदेश का पन्ना जिला प्राकृतिक संसाधनों से तो भरपूर है, लेकिन यह हमेशा से उद्योगविहीन एवं रोजगार के अवसरों से वंचित रहा है। इसलिए पलायन यहां की एक बड़ी समस्या है। यहां पत्थर एवं हीरा खनन का कार्य होता रहा है। थोड़ा बहुत सहारा पर्यटन उद्योग से मिलता है। परंतु अब तो इसमें भी बाहर से आए लोगों को अधिक रोजगार मिलने लगा है। यह काम करने वाले ज्यादातर आदिवासी परिवार हैं। जिले की कुल आबादी करीब 13 लाख है। इसमें से 18.42 प्रतिशत आदिवासी और 20 प्रतिशत अनुसूचित जाति के लोग हैं। आजीविका का दूसरा विकल्प न होने और जंगलों के संरक्षित और टाइगर रिजर्व होने की वजह से लोगों की इन तक पहुंच कम होती चली गई है। इसलिए स्थानीय लोग पत्थर तोड़ने का कठिन काम करते रहे हैं, लेकिन इस काम ने इन्हें कई बीमारियां दीं। यहां बड़ी संख्या में आदिवासी मजदूर टीबी और सिलिकोसिस जैसी लाइलाज बीमारी से पीड़ित हुए। इस वजह से कईयों की मौत हुई।

पुरुषों की मौत के बाद इन परिवारों के भरण-पोषण की जिम्मेदारी उनकी पत्नियों के ऊपर आ जाती है। यह एक अति विषम स्थिति होती है, जिसमें एकतरफ पति की मौत दूसरी तरफ परिवार को चलाने हेतु आर्थिक

संकट। सिलिकोसिस से मौत के बाद संबंधित परिवार की आजीविका,स्वास्थ्य,पोषण एवं बच्चों की शिक्षा पर भी प्रतिकूल असर पड़ता है। असंगठित क्षेत्र में कार्यरत होने की वजह से उन्हें कोई आर्थिक मदद या मुआवजा भी नहीं मिल पाता।

इस इलाके में लम्बे समय से संघर्ष और निर्माण की काम में लगी सामाजिक संस्था पृथ्वी ट्रस्ट इस बात से बेहद चिंतित थी। कई वर्षों से पृथ्वी ट्रस्ट खनन क्षेत्रों से प्रभावित मजदूरों के हक़ अधिकार, स्वास्थ्य, शिक्षा, आजीविका, कुपोषण की समाप्ति, विस्थापन, पत्थर की खदानों से होने वाली लाइलाज बीमारी सिलिकोसिस जैसे मुद्दों पर काम कर रही है। पृथ्वी ट्रस्ट की अपने सीमित संसाधनों से तथा सरकार द्वारा संचालित जन कल्याणकारी योजनाओं के माध्यम स्थानीय समुदाय को से जोड़ने में सहयोग करने की भूमिका रही है। संस्था ने पीड़ित परिवारों की आजीविका संवर्धन हेतु प्रयास किए हैं। संस्था के लगातार प्रयासों से ही मध्यप्रदेश सरकार द्वारा पन्ना जिले में सिलिकोसिस पीड़ित मजदूरों की जांच हुई और 39 मजदूरों में सिलिकोसिस होना प्रमाणित हुआ। सर्वोच्च न्यायालय के आदेश से मध्यप्रदेश सरकार द्वारा 18 सिलिकोसिस पीड़ित परिवारों को 3-3 लाख रुपए की सहायता राशि प्रदान की गई है। प्रदेश में सिलिकोसिस नीति लागू किए जाने की मांग को लेकर पृथ्वी ट्रस्ट द्वारा मजदूर संगठनों एवं गैर सरकारी संस्थाओं के साथ मिलकर निरंतर प्रयास किए जा रहे हैं।

बात सिलिकोसिस पीड़ित मजदूरों के संघर्ष की हो तो पृथ्वी ट्रस्ट के युसूफ बेग का नाम आना स्वाभाविक है। दुखद यह रहा कि कोविड-19 में संक्रमण के बाद वे नहीं रहे। इसके साथ ही सिलिकोसिस मजदूरों के लिए उनकी चिंता, संकट और संघर्ष के आगे जाने पर भी एक धुंध छा गई, ऐसे में उनकी पत्नी समीना बेग ने इन महिलाओं के लिए आगे आई और एक नई शुरुआत की।

स्थानीय परिस्थितियों के संबंध में समीना बताती हैं कि *'आदिवासी परिवारों के पास कृषि भूमि की कमी है। स्थानीय स्तर पर रोजगार के अवसर नहीं हैं। घर भी कमोवेश छोटे हैं। इनके लिए बड़े स्तर पर कोई व्यापार कर पाना संभव भी नहीं है। इन विपरीत परिस्थितियों में घरों में मशरूम लगाया जा सकता है। इसमें खेत की जरुरत नहीं है। सीमित संसाधन में ही लोग इससे जुड़ सकते हैं। वही मशरूम एक प्रोटीन युक्त भोजन है। इससे कम लागत में ज्यादा मुनाफा हो सकता है। दूसरी बात यह है कि आदिवासी परिवार अपने भोजन में हरी सब्जियों एवं अन्य महंगी चीजों का उपयोग करने में आर्थिक रूप से सक्षम नहीं हैं, जिससे उनको नमक रोटी से अपना एवं अपने परिवार का पेट भरना पड़ता है। परिणामस्वरूप महिलाओं में खून की कमी होती है और बच्चे कुपोषण की समस्या से जूझते हैं। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए संस्था के द्वारा मशरूम उत्पादन का सहज और उपयुक्त विकल्प चुना गया।'*

क्षेत्र की बहुत सी महिलाएं अब प्रतिवर्ष अपने-अपने घरों में ही मशरूम का उत्पादन कर रही हैं। पहले ये जलाऊ लकड़ी बेचने, दैनिक मजदूरी करने तथा कृषि मजदूरी करने जैसे कार्यों से जुड़ी थीं। इन कार्यों से 200 से 250 रुपया दैनिक आय अर्जित कर पाती थीं। जिससे परिवार की मूलभूत जरुरतों को पूरा कर पाना बहुत ही कठिन था, वही मजदूरी भी माह में 10 से 15 दिन ही मिल पाती थी। इतनी कम आय में परिवार के सदस्यों की आवश्यक पोषण आहार की जरुरत पूरी करना दूर की बात थी। इन परिस्थितियों में गर्भवती महिलाओं, धात्री माताओं एवं बच्चों को भी परिवार के अन्य सदस्यों के समान सब्जी कभी-कभी ही मिल पाती थी। जिसकी वजह से गर्भवती महिलाओं में खून की कमी, बच्चों में कुपोषण आम बात थी।

पन्ना के आदिवासी इलाकों में आमतौर पर ऐसी बसाहट होती है कि घर के सामने खुला 10 से 15 फीट लंबा बरामदा होता है, जिसके ऊपर छप्पर पड़ा हुआ होता है इसी छप्पर में लगी हुई लकड़ियों में मशरूम के बैग लटकाना तय हुआ। यहां मशरूम के बैग लगने के बाद भी इस जगह में होने वाले उनके दैनिक उपयोग में कोई समस्या खड़ी नहीं हुई। कुछ लोग जिनका एक ही कमरे का मकान था, उनके घरों में आधे कमरे में चादर लगाकर मशरूम लगाना तय हुआ। पृथ्वी ट्रस्ट द्वारा गांव में 10 से 12 महिलाओं के समूह बनाए गए हैं। उन समूहों को आजीविका मिशन से भी जुड़वाया गया है। महिला समूहों में पत्थर खदानों में काम करने वाले परिवारों की महिलाएं भी सम्मिलित हैं। महिलाओं के इन समूहों को संस्था द्वारा जागरुक करने के साथ ही उनके हक़ एवं अधिकारों को हासिल करने के उद्देश्य से भी संगठित किया गया था।

समीना बताती हैं कि *'आदिवासी महिलाओं के साथ, मशरूम उत्पादन करना सहज नहीं था, क्योंकि उनके पास मशरूम उत्पादन के लिए भूसा खरीदने तक के लिए पैसे नहीं थे। इसी के साथ जगह से जुड़ी भी समस्या थी। वैसे उनके लिए तो मशरूम शब्द भी नया था। इसके लिए हमने समय-समय पर उनके यहां जाकर उन्हें मशरूम खाने के फायदे एवं उससे होने वाले आर्थिक लाभ के बारे में बताया। इसके साथ ही संस्था द्वारा आर्थिक मदद करने का आश्वासन भी दिया। तभी महिलाएं अपने घरों में मशरूम लगाने के लिए तैयार हुईं।'*

पिछले 7 सालों से पांच ग्राम रानीपुर, गांधी ग्राम, मांझा, सुनहरा एवं बडौर की 65 महिलाओं को मशरूम उत्पादन में प्रशिक्षित किया जा चुका है। अब इन महिलाओं द्वारा घरों में 15 से 20 बैग लगाए जा रहे हैं। इन सभी महिलाओं के घरों में लगे मशरूम बैगों से 21 दिन के बाद मशरूम तोड़ने लायक हो जाता है। एक बार लगाए गए मशरूम के बैगों से 3 बार मशरूम प्राप्त होता है। नए मशरूम के बैग माह मार्च तक लगाए जाते हैं। प्रत्येक महिला के परिवार द्वारा 90 किलो मशरूम तैयार किया जाता है। इसमें से लगभग 30 किलो मशरूम का उपयोग अपने खाने में कर लेते हैं। शेष 60 किलो मशरूम को बेच लेते हैं। स्थानीय बाजार में मशरूम 200 रुपए प्रति किलो के भाव से बिक जाता है। जिससे उनके परिवार की अन्य जरूरतों को पूरा करने में मदद मिलती है। मशरूम उत्पादन में प्रत्येक वर्ष महिलाओं की संख्या बढ़ रही है। कई बार मशरूम की बिक्री नहीं हो पाती है और अनेक बार मशरूम की पूरी कीमत भी नहीं मिल पाती। ऐसे में लोग मशरूम का उपयोग अपने खाने में ही कर लेते हैं।

मशरूम उत्पादन में मार्केटिंग एक बड़ी समस्या रही है। इसको स्थानीय बाजार के माध्यम से बेचने के लिए जिला स्तर पर आयोजित होने वाली प्रदर्शनियों में स्टाल आदि लगाए गए एवं सरकारी आयोजनों के माध्यम से प्रचार-प्रसार किया गया। इसके साथ ही सोशल मीडिया, स्थानीय समाचारपत्रों का उपयोग किया गया। जिससे ताजा मशरूम बेचने में मदद मिली। शेष मशरूम को सुखाने के बाद बेचा जाता है। इसकी बिक्री सुनिश्चित करवाने हेतु जिला प्रशासन के साथ समन्वय कर इसे मध्याह्न भोजन, आंगनवाड़ी केन्द्र के गर्म पका भोजन में सम्मिलित किए जाने के प्रयास किए जा रहे हैं।

संस्था द्वारा गांधी ग्राम में मशरूम उत्पादन पर लोगों को प्रशिक्षित करने के लिए मशरूम प्रशिक्षण केंद्र भी संचालित किया जा रहा है। इस प्रशिक्षण केंद्र में महिलाओं को मशरूम उत्पादन के सन्दर्भ में बैग भरने एवं उनकी देखभाल करने से जुड़ी बारीकियां सिखाई जा रही हैं। प्रशिक्षण केंद्र में मशरूम का उत्पादन भी किया जा रहा है। यहां प्रशिक्षण निशुल्क प्रदान किया जा रहा है। इन्विरोनिक्स ट्रस्ट दिल्ली द्वारा संस्था को मशरूम उत्पादन के सन्दर्भ में प्रशिक्षण, संसाधन एवं आर्थिक सहयोग किया गया। मध्यप्रदेश राज्य ग्रामीण आजीविका मिशन के ब्लॉक समन्वयक विवेक कुमार मिश्रा कहते हैं कि अनेक स्व सहायता समूह अपनी आजीविका में वृद्धि के लिए निरंतर प्रयासरत हैं, उनके आजीविका के प्रयासों में पृथ्वी ट्रस्ट संस्था के द्वारा मशरूम उत्पादन में सराहनीय सहयोग किया जा रहा है। वहीं इन्विरोनिक्स ट्रस्ट दिल्ली के निदेशक आर श्रीधर कहते हैं कि पन्ना जिले में रोजगार बड़ी समस्या है, यहां पर लोगों को पत्थर की खदानों में ही काम या मजदूरी करना ही एकमात्र अवसर है। पत्थर की खदानों में कार्यरत श्रमिक सिलिकोसिस बीमारी से पीड़ित हो जाते हैं। इस समस्या से बचाव के लिए मशरूम उत्पादन यानी आजीविका के नए विकल्प पर लोगों को प्रशिक्षण दिया गया। जिसके काफ़ी सार्थक परिणाम प्राप्त हुए हैं।

भारतीय ग्रामीण समाज अभी भी कमोवेश काफी हद तक पारंपरिक ही है। मशरूम की आधुनिक तरह से खेती भी सर्वथा नई तकनीक है। साथ ही यह समाज के पारंपरिक भोजन में भी शामिल नहीं है। इसके बावजूद पृथ्वी ट्रस्ट द्वारा इसकी खेती और इसका स्थानीय भोजन में उपयोग को प्रोत्साहित करना एक दूरगामी रणनीति है, जिसके सकारात्मक परिणाम मिलने शुरू हो गए हैं। इस तरह के अभिनव प्रयासों का एक लाभ यह भी होता है कि नवाचारों का नया संसार खुलता है।

ओएफएआई

जैविक खेती का प्रमापीकरणः एक अनचाही अनिवार्यता

यह कहानी इस बात पर प्रकाश डाल रही है कि जैविक खेती को लेकर इतने सकारात्मक प्रचार के बावजूद आम किसान इसे लेकर हतोत्साहित क्यों हैं? बड़ी संख्या में किसान जो जैविक खेती से जुड़े थे, वे अब इससे बाहर आ रहे हैं। इसके पीछे दो मुख्य कारण हैं, पहला सरकार से किसी भी तरह का अतिरिक्त सहयोग एवं सहायता का नहीं मिलना और प्रमापीकरण की दुरुह प्रक्रिया। यह कहानी बेहद बेबाकी से जैविक खेती की राह में आ रही बाधाओं को उजागर कर रही है। 72 वर्ष पहले डा.जे सी कुमारप्पा ने रासायनिक खाद को 'दवा' की उपमा दी थी और कहा था कि दवा 'खुराक' नहीं हो सकती। आज तो रसायन, खेती की खुराक हो गए हैं।

रसायनी खेती को दवा समझना चाहिए। दवा और खुराक में फर्क होता है। दवा की कभी-कभी ही जरूरत पड़ती है। मान लीजिए कोई आदमी शराब खूब ऊपर तक पीकर नशे में नाच रहा है, तो क्या उसके काम को ताकत का कारनामा कहेंगे? यह तो उसकी नसों की एक केवल खलबली है। थोड़ी मेहनत के बाद वह थककर हार जाएगा। जरा देर बाद आप देखेंगे कि वह किसी नाले में पड़ा है। यही हाल रसायनी खाद देने पर जमीन का होता है। माना कि इन खादों का एक महत्व है। जब कोई बीमार पड़ता है, तो डाक्टर आकर सुई लगा देते हैं। छोटी मात्रा में। इसलिए रासायनिक खाद को खुराक के बजाय दवा के तौर पर इस्तेमाल करना चाहिए।

डॉ. के.सी. कुमारप्पा -1951

उपरोक्त कथन करीब सात दशक पुराना है और इसको यहां दोहराने का अर्थ यह समझना और समझाना है कि भारत की या वैश्विक कृषि के कमोवेश पूरी तरह रासायनिक खाद और कीटनाशकों पर आश्रित होने से आज किस तरह की परिस्थिति बनती जा रही है। मनुष्य की जीवनावधि अधिकतम 100 वर्ष मानी जाती है। परंतु धरती की वर्तमान आयु 2 से 4 करोड़ वर्षों के मध्य है। पृथ्वी पर समस्त वनस्पतियां धीरे-धीरे विकसित होती गईं और यह एकतरह से परस्पर निर्भरता का अनुपम उदाहरण है। यह पृथ्वी शाकाहारियों के लिए उनकी आवश्यकता का खाद्यान्न उत्पादित करती है और मांसाहारियों के लिए भी उनके भोजन की व्यवस्था निर्बाध करती है। तो ऐसा क्या हो गया कि बीसवीं शताब्दी के आते न आते सारा संसार एकाएक भयभीत हो गया, आशंकित हो गया, भुखमरी को लेकर। कृषिविज्ञान खेत से उजड़ कर प्रयोगशाला में बस गया और पृथ्वी की उर्वरा शक्ति का दोहन शोषण में बदल गया।

अतिरिक्त ऊर्जा बनाए रखने के लिए मनुष्यों द्वारा इस्तेमाल किए जाने वाले 'स्टेयराइड' अंततः उसे खोखला कर देते हैं। इस विषय पर हमारा चिकित्सा विज्ञान अत्यंत सक्रियता से बात करता है। खेलों आदि में इसका प्रयोग प्रतिबंधित कर दिया गया है, तो यही प्रतिबंध भूमि और कृषि पर लागू क्यों नहीं किए जा रहे हैं?

बड़ा प्रश्न तो यही है कि किस तरह पारंपरिक और जैविक खेती की पुर्नस्थापना की जाए? चर्चाएं बहुत हो रही हैं। बहुत वैचारिक बहस भी हो रही है। परंतु यह विषय या मुद्दा कमोवेश कदमताल करता ही नजर आ रहा है। इसी सब शंकाओं के मध्य हम मध्यप्रदेश के रतलाम जिले के सैलाना नगर से थोड़ी दूर पर स्थित गांव 'आंबा' पहुंचे। यहां हमें एक जैविक कृषक श्री राजेन्द्र सिंह राठौर से मिलना था। वे जैविक खेती तो करते ही हैं, उसी के समानंतर कृषि यायावरी भी करते हैं। जैविक कृषि से संबंधित एक महत्वपूर्ण संस्था 'आर्गेनिक फार्मिंग एसोसिएशन आफ इंडिया' (organic Farming Association of India) के मध्यप्रदेश चेप्टर के अध्यक्ष है और इसकी केंद्रीय समिति के सहसचिव हैं। यह संस्था जैविक खेती के प्रोत्साहन का कार्य करती हैं और इसके मध्यप्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र, पंजाब, हरियाणा, तमिलनाडु, केरल, तेलंगाना और उत्तरप्रदेश में 2,500 स्थायी सदस्य हैं। इसका मुख्य कार्यालय केरल के त्रिचूर जिले में है। इलियाज केंपी (केरल) इसके राष्ट्रीय अध्यक्ष हैं,बांदा उत्तरप्रदेश, बुंदेलखंड के श्री प्रेमसिंह इसके सचिव हैं और महाराष्ट्र की शामिका भोजने इसकी राष्ट्रीय कोषाध्यक्ष हैं। एसोसिएशन के प्रमुख कार्य हैं,

- जैविक खेती को बढावा देना
- कृषि संबंधी नीति निर्माण में केंद्र और राज्य सरकारों के साथ समन्वय करना।
- किसानों/नीति निर्माताओं को तकनीकी ज्ञान प्रदान करना।
- केरल व अन्य राज्यों के विशेषज्ञों में आपसी संवाद।
- पारंपरिक बीजों की बिक्री / प्रदर्शन
- जैविक खेती से जुड़े साहित्य का प्रकाशन
- साहित्य का नि:शुल्क वितरण
- जैविक खेती/उत्पादन के प्रमाणीकरण को प्रोत्साहित करना।

गौरतलब है जैविक कृषि उत्पाद के निर्यात के लिए उसका प्रमापीकरण (certification) कमोवेश अनिवार्य है।

श्री राजेन्द्र सिंह ने सन् 1992-93 से जैविक खेती करना शुरु कर दिया था। शुरूआत में वे अपनी पूरी जमीन जो करीब 30 हेक्टेयर (80 बीघा) है, पर जैविक खेती करते थे। धीरे-धीरे इसमें कमी आती गई और अब वे मात्र 4 हेक्टेयर में जैविक कृषि कर रहे हैं। बाकी की जमीन उन्होंने स्थानीय किसानों को वार्षिक लीज पर दे दी है और उन पर ऐसी कोई बाध्यता नहीं है कि वे जैविक खेती ही करेंगे। श्री सिंह बारिश में अपने खेतों में चावल, उड़द, मक्का लगाते हैं और सर्दी में गेहूं ,चना, मसूर, अलसी व सरसों।

पहले उनसे जैविक कृषि को लेकर ही बात हुई। उनका मानना था कि किसान जैविक खेती को लेकर हतोत्साहित हैं। वे लगातार जैविक खेती को छोड़ रहे हैं। इसकी वजह है शुरूआती वर्षों में बहुत कम पैदावार हाथ में आती है और मजदूरी/लागत बहुत ज्यादा होती। साथ ही मजदूरों की कमी भी अब एक बड़ी समस्या के रूप में सामने आ रही है। उनके अनुसार होना तो यह चाहिए कि स्थानीय उत्पाद का उपयोग भी स्थानीय ही हो। परंतु हमेशा ऐसा संभव नहीं हो पाता है। इन्दौर में 'जैविक सेतु' एक अच्छा प्रयोग है। परंतु वहां भी अंतत: दूर-दूर से ही कृषि उत्पाद आते हैं।

उनके अनुसार किसानी की हालत बहुत बुरी है। जैसे सरकार चलाना चाहती है, कृषि वैसे ही घिसट रही है। किसान की स्वायत्तता अब मायने नहीं रख रही है। किसान आकंठ कर्ज में डूबे हुए हैं। उन्होंने बताया कि स्वयं उन पर 8 लाख रुपए का कर्ज ट्रेक्टर आदि की वजह से हो गया है। यह पूछने पर कि जैविक खेती को तो कमोवेश पशुधन के माध्यम से ही क्रियान्वित किया जाना चाहिए? तो उनका जवाब था कि सरकार की 5 किलो अनाज की योजना भारतीय कृषि पर बहुत भारी पड़ रही है। सरकार बजाए शिक्षा, स्वास्थ्य और घर निर्माण पर खुले हाथ से खर्च करने के इनकी कीमत पर अनाज बांट रही है। हमने किसान को हिस्सेदार (शेयर होल्डर) बनाने की दिशा में भी कार्य किया, लेकिन सफलता नहीं मिली। इसकी वजह यह है यदि काम में/उत्पादन में हिस्सा चाहिए तो काम भी तो उसी ईमानदारी से किया जाना चाहिए। मगर ऐसा नहीं हो पाता। मजदूर ईमानदारी से कार्य नहीं करते। इतना ही नहीं गांवों में मनरेगा में भी 100 दिन का काम नहीं मिलता। वहीं दूसरी ओर मनरेगा को खेती से जोड़ा जाए। जैविक खेती में सबसे ज्यादा लागत श्रम या मजदूरी की ही है। होना यह चाहिए कि आधी मजदूरी किसान दे और आधी मजदूरी सरकार दे। यदि जैविक खेती को प्रोत्सहित करना है तो सरकार को अनिवार्यत: इसमें सीधे-सीधे योगदान देना ही होगा। तभी इस तरह की खेती संभव हो पाएगी।

उनका कहना है कि मध्यप्रदेश सरकार का दावा है कि यहां देश में सबसे ज्यादा क्षेत्र में जैविक खेती होती है। हमने रतलाम जिले में सरकारी विभागों से पता किया तो उन्होंने बताया कि अभी 50-60 किसान जैविक खेती कर रहे हैं। हमने इसी आधार पर रतलाम में 'जैविक हाट' की शुरूआत की। हमें जैविक कृषि उत्पाद ही नहीं मिले। रतलाम जिले में पांच विकास खंड हैं। उपलब्ध पतों पर हम लोग पहुंचे तो तकरीबन सभी ने कहा कि हमने तो जैविक खेती करना छोड़ दिया है।

गौरतलब है, महात्मा गांधी ने कहा था। 'कुछ लोग कहते हैं कि जब तक राजनीतिक ताकत हमारे हाथ में न आ जाए तब तक खेती में कोई बुनियादी सुधार नहीं हो सकता। उनका स्वप्न है कि भाप और बिजली बड़े पैमाने पर उपयोग करके मशीन की ताकत से खेती की जाए। जल्दी-जल्दी फसल लेने के लालच में जमीन के उपजाऊपन का व्यापार करना अंत में बरबाद कर देने वाला सिद्ध होगा और वह सिर्फ संकुचित दृष्टि वाली नीति होगी। इसका नतीजा यह होगा कि जमीन से उपजाऊपन कम होता जाएगा। अच्छी जमीन से खुराक पैदा करने के लिए पसीना बहाने की जरूरत होती है।' भारत के हाथ में राजनीतिक ताकत आए

75 वर्ष तो हो गए हैं। कृषि की वस्तुस्थिति और वास्तविकता भी हमारे सामने है। हमारे सामने दो आंकड़े हैं। सन 2022-23 के केंद्रीय बजट में स्वास्थ्य सेवाओं के लिए कुल 2.38 लाख करोड़ रुपए का प्रावधान किया गया है और रासायनिक उर्वरक सब्सिडी के लिए लगभग 2.5 लाख करोड़ रुपए का प्रावधान है। यदि स्वास्थ्य पर खर्च की बात करें तो यह भारत जीडीपी का मात्र 1.5 प्रतिशत ही है और इस तरह भारत 195 देशों की सूची में 154 वें स्थान पर है। इतना ही नहीं महंगी स्वास्थ्य सेवाओं की वजह से करीब 6 करोड़ नागरिक प्रतिवर्ष गरीबी की श्रेणी में शामिल होते हैं। इसी के समानांतर व्यापक सर्वेक्षण से यह भी सामने आना चाहिए कि वर्तमान खाद्यान्न/खाद्यपदार्थों की वजह से बहुत से लोगों का स्वास्थ्य खराब होता है।

जैविक खेती के प्रमापीकरण (सर्टिफकेशन) पर बात शुरु होते ही उन्होंने कहा कि प्रमाणपत्र जारी करने की मध्यप्रदेश सरकार की मान्यता तुरंत रद्द की जानी चाहिए। इसे सरकार के हांथों से लेकर संगठनों के हवाले किया जाना चाहिए। सरकार एक महीने में 20 सर्टिफिकेट भी जारी नहीं कर पाती है। अधिकारियों को लाखों करोड़ों रुपए वेतन के रूप में बांटे जा रहे हैं और इसके बावजूद वे किसान के पास नहीं जाते बल्कि किसान को अक्सर भोपाल बुलाते हैं। सर्टिफिकेशन बेहद जटिल प्रक्रिया है। निरीक्षण की अपनी समस्याएं हैं। बारिश में नजदीकी खेत का पानी जैविक खेती वाली जमीन में आने से रोकना भी बड़ी समस्या है। भारत में खेतों की जोत वैसे ही बहुत छोटी-छोटी हैं। प्रमापीकरण के लिए आवश्यक है कि दोनों खेतों के बीच 15 से 20 फीट की दूरी हो और साथ ही साथ पेड़ों की आड़ होना भी जरूरी है, जिससे हवा के कारण रासायनिक खेती के प्रभाव इस ओर न आ पाएं। साथ ही बीजों का भी जैविक होना अनिवार्य है और अधिकारी बीज के बिल मांगते हैं। श्री राठौर का कहना है कि जैविक खेती में तो बीज भी उसी फसल से प्राप्त किए जाते है तो फिर बिल कैसे मिल सकते हैं? इसके बाद उन्होंने जो बताया वह तो सच में चौकाने वाला था। उनके अनुसार सर्टिफिकेशन के लिए प्रतिवर्ष 1500 रुपए प्रति हेक्टेयर के हिसाब से शुल्क सरकार को देना होता है। इतना ही नहीं निरीक्षण के लिए आने वाले अधिकारी का खर्चा भी स्वयं किसान को उठाना पड़ता है। यह करीब 3,500 रुपए बैठता है। यह सुनकर अंग्रेजों के समय बने उस कानून का स्मरण हो आया जिसमें यदि किसान समय पर यदि लगान नहीं दे पाता या ऋण नहीं चुका पता था तो ऐसी स्थिति में पुलिस हिरासत में लिए गए किसान को हवालात का खर्च भी स्वयं ही उठाना पड़ता था। वह कानून अभी भी प्रचलन है। यह बात अलग है कि वह उपयोग में कम आता है।

श्री राठौर का कहना है कि इस सर्टिफिकेशन के बाद भी सरकार यह ग्यारंटी नहीं देती कि वह उत्पादित फसल निश्चित तौर पर खरीद ही लेगी। इतना ही नहीं दोनों तरह की फसलों के भाव भी एक जैसे ही हैं। सरकारी खरीदी में जैविक गेहूं भी 2,100 रुपए प्रति क्विंटल ही खरीदा जाएगा। जरुरी है कि सरकार जैविक फसलों के लिए अलग भाव तय करे। उनका कहना था कि सरकार रासायनिक खाद सब्सिडी पर 2.50 करोड़ लाख रुपए लगा रही है। वहीं उसकी तुलना में जो जैविक खेती के प्रोत्साहन पर खर्च कर रही है, वह नगण्य है। सरकार चाहे तो क्यूबा की जैविक क्रांति के उदाहरण से सबक ले सकती है कि किस तरह से जब क्यूबा के ऊपर प्रतिबंध लगे तो उसने रासायनिक कीटनाशक और रासायनिक खाद का आयात बंद कर दिया। उसने जैविक खेती व परंपरागत खेती को अपनाकर अपने देश की कृषि को नया स्वरूप ही दे दिया। भरत मन्साटा की पुस्तक Cuba-organic Revolution इसके बारे में गहन अध्ययन सामने लाती है। आज जैविक खेती करने वालों की हालत रासायनिक खेती करने वालों से भी ज्यादा खराब है। चूंकि हमारे पास पुश्तैनी जमीन काफी मात्रा में है तो हम एक हिस्से में जैविक खेती संभव कर पाए। वे बोले पिता तो मुझे इंजीनियर बनाना चाहते थे। परंतु मेरा झुकाव शुरू से ही खेती की ही ओर था। शुरूआत में गांव की सरकारी डेयरी का अध्ययन किया। वहां इतना भ्रष्टाचार था कि वह चल ही नहीं पाई। अभी राजेंद्र जी के पास 7 गायें हैं।

श्री राठौर खरपतवार के साथ खेती करने का प्रशिक्षण देते हैं। सुनने में यह बात बड़ी अजीब सी लगी। जब उन्होंने बताया कि प्रसिद्ध कृषि वैज्ञानिक भास्कर सावे कहते थे कि 'खरपतवर प्रकृति की सगी संतान है और किसान जो उपजाते हैं वह सौतेली संतान है।' खेत पर उन्होंने इसका जीवंत प्रदर्शन भी बताया। वे खरपतवार के साथ ही खेती करते हैं। उसे छाटते और काटते रहते हैं, पूरी तरह से उखाड़ते नहीं हैं। वे कहते हैं इसे उखाड़ने से फायदे कम और नुकसान ज्यादा हैं। यह फसल को नाइट्रोजन देती है। सूर्य की रोशनी से ज्यादा फोटो सिंथोसिस होने से फसल में वृद्धि होती है। इसकी वजह से फसल और खरपतवार में प्रतिस्पर्धा भी खत्म हो जाती है। इसकी वजह से मुख्य फसल की जड़ों और तने को भी फायदा होता है। खरपतवार फसल को फंगस से बचाती है। यह अच्छे बैक्टेरिया को शरण देती है। उनका मानना है कि प्रकृति ने सभी को कुछ न कुछ काम दिया है। यदि ये जिंदा नहीं रह पाई तो भविष्य में कृषि की विकसित फसलों पर भी संकट खड़ा हो सकता है। पूरी प्रकृति परस्पर निर्भरता वाला एक विशाल संयुक्त परिवार ही तो है। जैव विविधता (बायोडायवरसिटी) को बचाना है तो संतुलन तो बनाए रखना होगा। हम जैवविविधता का निर्माण नहीं कर सकते। वह तो प्रकृति ही निर्मित करती है और वही कर सकती है। यह नितांत प्राकृतिक प्रक्रिया है।

निष्कर्ष: एक छोटा सा गणित समझिये। हम आजादी के अमृतकाल में रह रहे हैं। यदि हम सन 1947 से सन 2023 तक वस्तुओं के मूल्यों की तुलना करें तो बहुत कुछ स्पष्ट हो जाएगा। उदाहरणार्थ सन 1947 में किसान द्वारा उत्पादित गेहूं का बिक्री का भाव 27 पैसे प्रति किलो, सोना 86 रुपए प्रति तोला, पेट्रोल 27 पैसे प्रति लीटर, कृषि श्रमिक की मजदूरी 62 पैसे प्रतिदिन और प्राथमिक विद्यालय के शिक्षक का वेतन 50 रुपए प्रति माह था। वही सन 2023 में इनके भाव इस स्तर पर थे,गेहूं 21 रुपए प्रति किलो, सोना 52000 प्रति तोला (10 ग्राम) पेट्रोल 108 रुपए प्रति लीटर, कृषि श्रमिक मजदूरी अधिकतम 300 रुपए प्रतिदिन तथा प्राथमिक विद्यालय शिक्षक (सरकारी) का वेतन करीब 50000 रुपए हो गया। यानी गेहूं 77.7 गुना,सोना 590 गुना, पेट्रोल 400 गुना, कृषि मजदूरी 484 गुना तथा शिक्षक के वेतन में 1000 गुना की वृद्धि हुई। सबसे कम वृद्धि गेहूं के भाव में हुई। यदि औसत/आनुपातिक तुलना करें तो गेहूं का भाव कम से कम 10,800 रुपए प्रति किंवटल होना चाहिए। परंतु वास्तविकता हम सबके सामने है।

कृषि की बढ़ती लागत और कीमतों में ठहराव ने कृषि को लाचारी में बदल दिया है। जैविक खेती कर रहे किसानों की स्थिति तो और भी जोखिम भरी हो गई है। क्लाड बोरग्वां अपनी पुस्तक: 'मिट्टी का पुर्नर्जीवन' (रिजनरेटिंग द सॉइल) में लिखते हैं, 'पर्यावरण का नाश इस सदी की सबसे बड़ी त्रासदी है, क्योंकि हमने धरती मां को धरती दादी मां' बना दिया है। उसे समाप्त करके ही हम समाप्त होंगे। यदि हमने उसकी रक्षा की तो वह भी हमारी रक्षा करेगी।' मजेदार बात यह है कि हमने कृषि विकास के नाम पर जंगल काटे, सूरज को लूटा, पानी का अपव्यय किया। परंतु अब हमें समझ लेना चाहिए कि हम मिट्टी के बारे में समझ बनायें।

हमारी मूल समस्या यह है कि हम पैदावार में रूचि रखते हैं मिट्टी में नहीं। जैविक खेती के मूल में मिट्टी है। हमें मिट्टी के स्वभाव और कृषि फसलों के स्वभाव को समझना होगा। और दोनों का सामंजस्य करना ही होगा। यदि हम मिट्टी की उर्वरता को बढ़ाना चाहते हैं तो हमें कुछ कठोर कदम उठाने होंगे और उन्हें निश्चित समय सीमा में लागू करना ही होगा। अर्थशास्त्र पर टिकी दुनिया जिस छोटी धुरी पर टिकी है, उसका संतुलन कभी भी बिगड़ सकता है और वह धराशायी हो सकती है। वैसे हम तेजी से धराशायी होने की दौड़ में शामिल हो चुके हैं। अतएव जैविक खेती अब अनिवार्यता है। जाहिर सी बात है कि कृषि का व्यावसायिककरण संभव नहीं है। गौरतलब है ज्यादा लाभ के लिए ज्यादा उत्पादन और ज्यादा उत्पादन के लिए पृथ्वी पर अतिरिक्त संसाधनों का बोझ।

विनाश को अपनाने के लिए कोई भी तर्क, तर्कसंगत नहीं हो सकता है। जहर से पेट भरना कोई समझदारी नहीं है। परंतु आज यही हो रहा है। किसान को हम अन्नदाता पुकारते हैं, परंतु उसके साथ व्यवहार तो नौकर से भी बदतर करते हैं। किसान कभी शासक नहीं हो सकता। दुनिया धन के असमान व असंतुलित वितरण ने परिस्थितियों को और भी विषम बना दिया है। औद्योगिककरण की शुरूआत के बाद नकद फसलों की प्रचलन बढ़ा और आज हम इस खतरनाक स्थिति में पहुंच गए हैं। श्री राठौर और उनका संगठन, जिस प्रयास में लगे हैं, वह बेहद कठिन और दुष्कर कर्म है। पंरतु यह हमारे समय की अनिवार्यता भी है। गेहूं या चावल के 30-40 तरह के बीज विकसित कर बहुराष्ट्रीय बीज उत्पादन कंपनियां दुनिया की सबसे समृद्ध कंपनियों में गिनी जाती हैं और लाखों किस्म के बीज विकसित करने वाला किसान भूखा मर रहा है। कंपनियों के बीजों की अधिकतम जीवन अवधि 30 से 40 वर्ष है। वहीं दूसरी ओर किसानों द्वारा विकसित बीज की जीवन अवधि आदि से अनंत तक है। किसान व्यापारी नहीं था इसलिए उसने जो विकसित किया, उसका व्यापार नहीं किया। किसान को पिछली फसल से अगली फसल के बीज मुफ्त मिल जाते हैं। उसने कभी टर्मिनेटर बीज नहीं बनाए।

जाहिर है 'जैविक खेती' हमारी दुनिया को बचाए रखने का एक उपक्रम है और हमारा देश इसमें महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। जार्ज कैनी जो सन 1912 ईस्वी में यहां भारत की खेती के निरीक्षण के लिए आए थे, ने कहा था। 'जहां एक ही क्षेत्र में चार हजार से ज्यादा चावल की प्रजातियां बोई जाती हैं। वहां बीज का चयन करने की सलाह देना उचित नहीं है क्योंकि खेत देखकर ही किसान वह जाति बोते हैं।' और आज? एक ही किस्म बीज 10 सेंटीमीटर वर्षा जल वाले क्षेत्र में और 1000 सेंटीमीटर वर्षा जल वाले क्षेत्र में बोया जा रहा है। भारतीय खेती के पतन के क्रम को उलटना आवश्यक है।

रंगवास

जैविक खेती तक पहुंचने का लम्बा सफर

यह कहानी भारतीय कृषि की समृद्ध विरासत की पुनर्प्राप्ति का रास्ता बताने का प्रयास करती नजर आती है। बहुराष्ट्रीय कीटनाशक कम्पनी से शुरु हुआ सफ़र एक गांव में पहुंच कर अपनी मंजिल पाता है। इस वृतांत में भारत में और कहें तो पूरे विश्व में कृषि की अपरिहार्यता को बहुत मार्मिक तरीके से सामने लाकर, कृषि को एक 'आध्यात्मिक संकल्पना' निरुपित किया गया है। इसे पढ़कर कृषि में व्याप्त संकट को दूर करने के कुछ समाधान भी हमारे सामने स्पष्ट होते हैं।

मालवा से संबंधित एक किवदन्ती है, 'एकबार काश्य वंश के महर्षि सांदिपनि की इच्छा उज्जैन स्थित क्षिप्रा नदी में वैशाख स्नान करने की हुई। पर वहां अकाल के कारण नदी सूख गई थी। जनता की परेशानी समझते हुए महर्षि ने तत्काल महाकाल (शिव) की आराधना शुरु कर दी। कठोर तपस्या से प्रसन्न हो शिव ने ऋषि से वरदान मांगने को कहा। महर्षि ने वर मांगा कि मालवा में कभी अवर्षा न हो, अकाल न पड़े, सूखा न पड़े। महाकाल ने तथास्तु कहा और ऋषि से स्वयं के लिए कुछ मांगने को कहा। ऋषि बोले, भगवन जनता के सुख में ही मेरा सुख है। प्रकृति सुखी है तो मेरे सुख की क्या कमी ? मेरा सुख सबके सुख से अलग नहीं है। कहते हैं तब से मालवा में कभी अकाल नहीं पड़ा।'

इसी 'मालवा' में स्थित है 'इंदौर'। मध्यप्रदेश का सबसे बड़ा शहर। म.प्र. की औद्योगिक व व्यावसायिक राजधानी। आसपास का क्षेत्र बेहद उपजाऊ काली मिट्टी का क्षेत्र है। 'रंगवासा' जो पहले एक आंगनवाड़ी था अब कमोवेश इंदौर का उपनगर जैसा हो गया है। यहीं पर भारतीय प्रबंध संस्थान (IIM) स्थित है। इसके ठीक सामने स्थित है 'रंगवासा जैविक ग्राम संस्था, इन्दौर'। सन् 2007 में पंजीकृत संस्था के प्रणेता हैं 81 वर्षीय श्री अरुण डिके। उनकी जीवनयात्रा बेहद रोमाचंक है। उन्होंने सन् 1962 में कृषि मे बीएससी और 1964 में एमएससी की उपाधि अर्जित की। उसके बाद किसानों से जुड़ने का असफल प्रयास किया। सन् 1967 में कृषि व्यापार की कंपनी सायनामाइड इंडिया जो कीटनाशक बेचती थी, के साथ मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र व उत्तरप्रदेश में कार्य किया। इसी बीच गन्ने की 24 लाख हेक्टेयर फसल में 'पायरियला' नामक रोग लग गया था। इससे गन्ने की मिठास खत्म हो जाती है। तब पहली बार भारत में हवाई जहाज से कीटनाशक छिड़का गया। यह कार्य उनके ही निर्देशन में हुआ था।

वे बताते हैं कि उसी दौरान मैं समझ गया कि कंपनियों को सिर्फ मुनाफे से मतलब है, किसान उनकी प्राथमिकता में नहीं है। सन् 1972 में नौकरी छोड़कर इन्दौर में रासायनिक खाद, कीटनाशक व हाई ब्रीड बीज बिक्री की दुकान खोली। सन् 1988 यानी 14 वर्ष तक यह कार्य किया। किसान तो यहां मेरे द्वारा भी शोषण का शिकार हो रहा था। कला गुरु विष्णु चिंचालकर ने मुझे द सीक्रेट लाइफ ऑफ प्लांट (The Secret life of Plant) शीर्षक वाली पुस्तक भेंट की। इसको पढ़ने के बाद मेरा जीवन बदल गया। मैं समझ गया कृषि में ही भारत का भविष्य व आत्मनिर्भरता निहित है।

इसी दौरान केंचुआ खाद (वर्मी कमोस्ट) से साक्षात्कार हुआ। मुझे समझ आया कि 'केंचुआ जीवन का प्रतीक' है और 'मानव सभ्यता केवल 18 इंच ही गहरी है।' मैंने मध्यप्रदेश में सबसे पहले 1000 केंचुए बुलाए और एक वर्ष में हमारे पास एक करोड़ केंचुए हो गए थे। सरकार ने भी जैविक खेती को प्रोत्साहन देना शुरु किया। सरकार के सहयोग से हमने पूरे प्रदेश ने इसका प्रशिक्षण प्रारंभ किया। इस दौरान मेरी समझ में आया कि हम यानी मनुष्य खुश्बुदार पदार्थ खाकर बदबू यानी मल और पसीना बाहर निकालते हैं और केंचुआ गंदा खाता है और स्वादिष्ट विसर्जित करता है। 5 वर्ष तक यह कार्य किया इसके बाद नाबार्ड को प्रोजेक्ट देकर 17 लाख रु. का ऋण लेकर, 'इंदौर बायोटेक इनपुट्स एण्ड रिसर्च (प्रा) लि.' की स्थापना की। प्रारंभ में नाइट्रोजन, फास्फोरस, व पोटाश खाद जैविक तौर पर तैयार किए। इससे काफी संतोष मिला।

सन् 1997 में बेटा साथ आया और हमने जैविक फर्टिलाइजर और पेस्टीसाइड (उर्वरक और कीटनाशक) बनाना शुरु कर दिया। इसके प्रचार के लिए कृषि प्रदर्शनियां और संगोष्ठियां आयोजित कीं।

सन् 2000 में डबलचौकी में 5 एकड़ जमीन लेकर स्वयं जैविक खेती भी शुरु कर दी। अब तक खेती से अप्रत्यक्ष जुड़ाव था, अब प्रत्यक्ष जुड़ गया। मैं तब तक 60 वर्ष का हो चुका था। हमने मध्यप्रदेश के अलावा महाराष्ट्र, राजस्थान, छत्तीसगढ़ और राजस्थान में भी प्रशिक्षण दिया। मैं गांधी और विनोबा के सिद्धान्तों पर चलने का प्रयास कर रहा था। खेती शुरु करते ही मेरा परिचय श्री श्रीपाद अच्युत दाभोलकर से हुआ और मुझमें नया परिवर्तन आया। मुझे कृषि नकदीकरण के दुष्प्रभाव समझ में आने लगे। गौरतलब है उन्होंने 'प्रयोग परिवार' का गठन किया था। डबलचौकी में मैंने पहला प्रयोग कृषि में सूर्य की ऊर्जा के उपयोग को लेकर किया। इसके द्वारा आधा एकड़ में करीब 5.5 क्विंटल गेहूं प्राप्त हुआ।

मैं इस उपलब्धि को व्यक्तिगत न रखकर पूरे कृषि समाज तक पहुंचाना चाहता था। इसी बीच मैं एक अन्य चमत्कार का साक्षी हुआ। जिस आम के पेड़ के नीचे छाया में खाद बनाता था, उसी प्रक्रिया में आम के पेड़ ने खाद ग्रहण कर ली और उस साल उस एक पेड़ पर करीब 1500 आम लगे। इस तरह मैंने खेती का चौथा चरण पार किया। अब मैं पांचवे चरण में हूं। अब जो काम मैंने किए हैं, उन्हें अब दूसरों से करवा रहा हूं। मुझे महसूस हुआ कि खेती एक 'आध्यात्मिक प्रक्रिया' है। यह भी महसूस हुआ की गांधी का कहना उचित था कि केवल कृषि से ही जीवनयापन संभव नहीं है। वे स्थानीयता यानी 30 कि.मी. की परिधि की उपयोगिता जानते थे। अमेरिका में आज औसत फूड माइलेज 1200 मील यानी 1500 कि.मी. है । भारत को इससे बचना होगा। क्या यह संभव है ? यदि है तो किस तरह ?

मेरी पत्नी के निधन के बाद आए मेरे जन्मदिन पर पूरा परिवार यानी बेटे व दोनों बेटियां इकठ्ठा हुए और उन्होंने मुझे रंगवासा में यह 8 एकड़ जमीन भेंट में दी । इस तरह 'रंगवासा जैविक ग्राम संस्था' का गठन हुआ। मेरे दिमाग में विश्वबैंक के अध्यक्ष का यह वाक्य लगातार गूंजता रहता था कि 'कृषि, उद्योगों से चार गुना ज्यादा उत्पादन करती है।' परंतु इसके बावजूद कृषि और कृषक की अवहेलना की परंपरा आज भी जारी है।

श्री डिके अनुसार जैविक कृषि के सामने निम्न समस्याएं आ रहीं है:-

- औद्योगिक कृषि का जबरदस्त प्रचार
- अत्यधिक उत्पादन करने की होड़
- अपने पर्यावरण व पारिस्थितिकी के प्रति अनभिज्ञता
- स्थानीयता के प्रति अलगाव
- हाथों से काम न करने की आदत का बढ़ते जाना
- बाजार पर जबरदस्त निर्भरता

उनका कहना है कि हिन्दी भाषी क्षेत्रों में किसान बिल्कुल भी अध्ययन नहीं करते। आधुनिक औद्योगिक खेती के दुष्परिणामों को लेकर कृषक समाज में व्यापक अनभिज्ञता है। कृषि विज्ञान में प्रयोगशाला से खेत तक प्रत्येक चरण का बहुत महत्व है, लेकिन.... ! हमने तमाम प्रचार सामग्री और यहां तक कि नुक्कड़ नाटकों के माध्यम से भी जैविक खेती का प्रचार किया। कृषि साहित्य जिसमें जेफरी एम. स्मिथ की पुस्तक 'जिनेटिक राउलेट्स' भी शामिल है को हिन्दी में प्रकाशित किया। वे भारतीय कृषि वैज्ञानिक डा. आर.एच. रिछारिया के इस कथन को बार-बार दोहराते हैं, 'हम आज जीन संकरित और जीन रुपांतरित बीजों का बखान करते नहीं थकते, वो विज्ञान तो सदियों से यहां बोया (मौजूद) जाता था।'

श्री डिके का कहना है कि संस्था की इस 8 एकड़ जमीन पर शोध, अनुसंधान, क्रियान्वयन व प्रशिक्षण के कार्य होते हैं । यहां पर विविधता से भरी बहुत सी फसलें या मल्टी क्रांपिंग के प्रयोग होते हैं। उनका कहना है कि भारत में कृषि का मौलिक ज्ञान अब केवल आदिवासियों के पास ही बचा है। बाकी के पास जानकारियां ही हैं।

यहां पैदा होने वाली फसलों पर गौर करते हैं,

- दालें: तुअर, मूंग, उड़द व चना।
- अनाज: ज्वार, बाजरा, मक्का, गेहूँ, कोदो, कुटकी, राला, जौ, जई, चावल
- तिलहन: अलसी, तिल, मूंगफली, रामतिल, सरसों
- फल: पपीता, चीकू, अमरूद, आम, सीताफल, आंवला, इमली, कबीट, केला
- मसाले: हल्दी
- सब्जी: अंबाड़ी की भाजी, बैंगन, गोभी, पत्तागोभी, टमाटर, पालक, मेथी, गंवारफली, सेम, भिंडी (देसीबीज), तुरई, गिलकी, आलू, प्याज, लहसुन
- फूल: गेंदा, गुलाब, तुलसी
- नकद फसलें: गन्ना, कपास, एलोवीरा

उन्होंने बताया कि पिछले 12 वर्षों में खेतों में एक बार की ट्रेक्टर नहीं चला है। खेत का अपना तालाब है। अभी तक एकबार भी खाद नहीं डाली है। गौरतलब है महात्मा गांधी के इन्दौर आने के पीछे एक मुख्य कारण कम्पोस्ट की इंदौर खाद विधि को देखना परखना था। इसके जन्मदाता हावर्ड तो भारतीय किसानों को खेती का प्रोफेसर मानते थे। शुरुआत में संस्था के सदस्य ही जैविक खेती से जुड़े। फिर प्रयोग परिवार के 35 सदस्य और अब आसपास के किसान जैविक खेती से जुड़ते जा रहे हैं। इसी के साथ संस्था ने तमाम लोगों के साथ मिलकर 'जैविक सेतु' विकसित किया है। यहां पर प्रति रविवार जैविक उत्पादों की बिक्री होती है। संस्था ने जो भी निर्माण किए हैं उसमें सीमेंट व सरिये का उपयोग नहीं किया है, सिवाय गोदाम छोड़कर। यहां पर 75 लोगों की क्षमता वाला आधुनिक यंत्रों से लैस सुसज्जित सभागृह भी है। शुष्क या सूखा शौचालय भी है जिसमें 24 घंटे में मल केंचुओ द्वारा मिट्टी में बदल दिया जाता है। उन्होंने अंबाड़ी की भाजी और खेती के गंग्म्मा माडल' पर भी विस्तार से बात की।

खेत पर ही तेल निकालने की धानी है और इसके माध्यम से मूंगफली, तिल्ली, अलसी का तेल निकाला जाता है। यहीं की फसलों से आलू, पापड़, बड़ी, शेम्पू, गुलकंद, साबुन बनते हैं और उनकी बिक्री की जाती है। स्थानीयता से खेती को आत्मनिर्भर बनाने की कोशिश की जा रही है। संस्था ने एक अभिनव प्रयोग यह किया है कि विशिष्ट

मुहुर्त में विशेष प्रजाति का पौधा लगाना। उन्होंने उदाहरण दिया कि 'आम' का पौधा लगाने के मुहुर्त के समय रात में तेज बारिश हो रही थी। लेकिन सहकर्मी कल्पना शर्मा ने उसी मुहुर्त में पौधा रोपा। हम सबने अगले दिन पौधा लगाया। आश्चर्य यह है कि सबसे पहले फल उसी पेड़ में आए जिसे कल्पना ने लगाया था और सबसे ज्यादा फल आए । उनका कहना है कि खाद न डालने के बावजूद यहां के खेत की उर्वराशक्ति में पिछले 15 वर्षों में 20 से 25 प्रतिशत की वृद्धि हुई है।

संस्था के प्रशिक्षण शिविर में मध्यप्रदेश, छत्तीसगढ़, महाराष्ट्र, गुजरात, राजस्थान व दिल्ली के साथ-साथ स्वीडन से भी प्रतिभागी आ चुके हैं। एकबार में अधिकतम 40 लोगों को प्रशिक्षण दिया जाता है। तीन तरह का प्रशिक्षण होता है। पहला 2 घंटे का जो प्रश्न-उत्तर पर आधारित होता है। दूसरा है पूरे दिन का डिस्कशन या वार्तालाप। यह सशुल्क होता है। पिछले वर्षों में स्कूलों के बच्चे बड़ी संख्या में आने लगे हैं। हम बच्चों को पहले कुछ नहीं बताते। वे समझते हैं और प्रश्न करते हैं। अब तक 6000 से ज्यादा लोग प्रशिक्षण ले चुके है। समस्या यह है कि जैविक खेती अधिक श्रम की मांग करती है और लोग आजकल इससे बचते हैं। वे बताते है कि सरकार जैविक खेती को बढ़ावा तो देना चाहती है लेकिन कैसे, यह समझ नहीं पा रही है। आवश्यकता जैविक खेती के शिक्षक तैयार करने की है।

अरुण डिके का कहना है कि किसान अपनी कुल जमीन के 20 प्रतिशत में जैविक खेती की शुरुआत करें और धीरे-धीरे इसमें विस्तार करें। उनका कहना है कि वे इस संस्था को एक परिपूर्ण कृषि केन्द्र में परिवर्तित करना चाहते हैं। इसकी बाहर पर निर्भरता कम से कम है। यहां वे पीनट बटर भी बनाते है। वे सोयाबीन जैसी फसलों और कोकाकोला जैसे पेय पदार्थों के घोर विरोधी हैं। वे यहां चर्खा व बुनाई भी शुरु करना चाहते हैं। मिट्टी और चर्मकारी भी यहां हो ऐसी उनकी मंशा है। गौरतलब है सन् 1835-36 में भारत के गवर्नर जनरल रहे चार्ल्स मेटेकाक ने कहा था। 'भारत के छोटे से छोटे आंगनवाड़ी में एक सधा हुआ गणतंत्र है जहां बिनी किसी बाहरी मदद के हर चीज उपलब्ध है। शून्य में भी ये लोग सब पैदा कर लेते हैं । कई राजे-रजवाड़े आए-गए, कई क्रांतियां आई-गई लेकिन यहां का ग्रामीण समुदाय अक्षय रहा।' आज 200 वर्षों बाद ऐसी स्थिति नजर नहीं आती। यही मूल प्रश्न है जिसमें समाधान भी छिपा है।

निष्कर्ष: रंगवासा जैविक ग्राम संस्था, इंदौर का अध्ययन समझाता है कि बदलाव की प्रक्रिया कितने चरणों में मूर्त रूप ले पाती है। संस्था का सफर रोमांचक रहा है। यह कृषि के माध्यम से एक बेहतर पर्यावरण व जीवन की परिकल्पना को साकार करने की कोशिश है। 8 एकड़ में जो उत्पादन/पैदावार हो रही है वह आश्चर्यचकित करती है। यह एक ऐसा माडल है जिसका दोहराव संभव है। सूतन जार्ज अपनी पुस्तक फूड फॉर बिगिनर्स (Food for Beginners) जो पिछले 10 हजार वर्षों में कृषि और भोजन में आए परिवर्तन का लेखा जोखा प्रस्तुत करती है, में लिखतीं हैं 'किसान भले ही अन्नदाता हो लेकिन वह हमेशा सेवक ही रहा है। कभी शासक नहीं हो सका। खेती का मतलब ही है धन और दौलत का असमान बंटवारा। जिनके पास ज्यादा जमीन थी वे शासक बन गए। औद्योगिककरण ने नकदी फसलों की मांग बढ़ाई। उद्योगों के लिए भारतीय किसान के खेत से अन्न निकालकर रबर लगवाया गया। तीसरी दुनिया के देशों के बजट के अधिकतर हिस्से ने वो चीजें पैदा कीं, जिनका उपयोग हुआ और समाप्त हो गई जैसे शराब। लेकिन वे चीजें अछूती रह गई जिनसे मूलधन बढ़ सके, जैसे लकड़ी। गांवों से आए पैसों से शहर सजे परंतु आंगनवाड़ी पिछड़ गए।

अठाना बुनकर सहकारी समिति

अतीत, वर्तमान और भविष्य को संजोता गांवों का त्रिकोण

यह कहानी हमें बताती है कि पारंपरिक भारतीय अर्थव्यवस्था में स्थानीयता का कितना महत्वपूर्ण स्थान था। वस्त्र बुनाई एक गांव में होती है और नजदीकी 5 किलोमीटर दूर नदी किनारे बसे दूसरे गांव में छपाई होती है और सारा की सारा तैयार कपड़ा स्थानीय तौर पर बिक भी जाता है। यह एक आत्मनिर्भर समाज की सुनहरी दास्तान है। इस पूरे कार्य में न तो कृत्रिम उर्जा के उपयोग की जरुरत है और प्रदूषण भी कमोवेश नहीं के बराबर है। यह पलायन और बेरोजगारी दोनों पर लगाम भी कसता है। ब्रिटिश कालीन भारत से पहले पूरे भारत में इसी तरह के उद्योगों का जाल बुना हुआ था। जो न सिर्फ कपड़ा बुनता था बल्कि समाज को आपस में गुथता भी था।

सखाराम गणेश देउस्कर ने सन 1904 में बंगाली में एक ग्रंथ लिखा 'देशेर कथा।' इसका हिन्दी अनुवाद 'देश की बात' के नाम में प्रकाशित हुआ। यह ग्रंथ अंग्रेजों के भारत के आधिपत्य के इतिहास के साथ दुनिया में अब तक की सबसे बड़ी लूट जो ब्रिटेन ने भारत में की थी, का विस्तृत लेखाजोखा देता है। साथ ही भारत में कारीगरी की तत्कालीन स्थिति और उसके विनाश की गाथा को भी विस्तार से समझाता है। इसमें लिखे इस कथन पर गौर करें,' डॉक्टर बकानन ने कंपनी की आज्ञा से उत्तर भारत की कारीगरी जांचने के लिए सन 1807 में पटना, शाहबाद आदि स्थानों का भ्रमण किया। (हम यहां केवल कपड़े से संबंधित विवरण लिख रहे हैं) पटना जिले में 3,30,436 औरतें केवल सूत कातकर अपनी जीविका चला लेती थीं। अंग्रेजों की ज्यादतियों से महीन सूत की

रफ्तनी (निर्यात) रुकने के साथ ही साथ उनका व्यवसाय घटने लगा और जीविका की जड़ कटने लगी। वहां जुलाहे, कपड़े बुनकर, वार्षिक खर्च निर्वाह कर लेने के बाद साढ़े सात लाख रुपए नफा पाते थे। शाहबाद में 1,59,500 स्त्रियां प्रतिवर्ष 12.50 लाख रुपए का सूत कातती थीं। वहां 7950 करघे चलते थे।' गोरखपुर में 1,75,600 स्त्रियां चरखे पर सूत कातती थीं। ऊँची जातियों की बहुतेरी विधवाएं और किसानों की स्त्रियां सूत कातती हुई खर्च से अतिरिक्त 9,15,000 रुपए फायदे में पा जाती थीं। वहां 500 रेशम व्यवसायियों के घराने वर्ष में 12,00,000 रुपए का नफा पाते थे।' यह भारत भर में फैले वस्त्र बुनाई व्यवसाय के मात्र दो-तीन जिलों में महिलाओं द्वारा प्राप्त रोजगार की स्थिति थी। इस अतीत को जानना इसलिए भी आवश्यक है क्योंकि हम तभी यह जान पाएंगे कि सन 1824 तक भारत की विश्व व्यापार में हिस्सेदारी 24 प्रतिशत किस प्रकार थी और कैसे अगले 100 वर्षों में यह घटकर करीब 1 (एक) प्रतिशत रह गई। वस्त्र तो भारत और भारतीय व्यापार का गौरव था।

भारत आज पुन : कमोवेश उसी दोराहे पर खड़ा है। विकास की गति और व्यापकता को लेकर रोज नए दावे सामने आ रहे हैं। वहीं दूसरी ओर हम पिछले 50 वर्षों में सबसे व्यापक बेरोजगारी दर के दौर में भी पहुंच गए हैं। भारत के बारे में बहुप्रचारित किया गया था कि यह मूलत : कृषि प्रधान देश रहा है,जबकि वास्तविकता यह थी, हमारा देश एक अनूठी संतुलित अर्थव्यवस्था वाला देश रहा है। शासन चाहे जिसका रहा हो, उद्योग और कृषि हमेशा प्रतिस्पर्धात्मक ही बने रहे हैं। साथ ही यहां कार्यों का बहुत अच्छे से बंटवारा और विकेन्द्रीयकरण प्रचलन में था। अत्यधिक परस्पर निर्भरता की यहां मौजूद रही है। उद्योग और ग्रामोद्योग भारतीय अर्थव्यवस्था की रीढ़ रहे हैं।

यह कहानी मध्यप्रदेश के नीमच जिले के कस्बे जावद और उसके आसपास बसे तीन अन्य गांवों में होने वाले उत्पादन की परस्पर निर्भरता का जीवंत उदाहरण है। ये चार स्थान हैं, जावद, तारापुर-उम्मेदपुर और अठाना। इनमें से एक गांव वस्त्र बुनाई का केन्द्र है और बाकी के तीनों वस्त्र छपाई के पारंपरिक केन्द्र रहे हैं। सबसे पहले 'अठाना' की बात करते हैं। यह पारंपरिक बुनाई केन्द्र है। अठाना में हमारी मुलाकात 'अठाना' बुनकर सहकारी समिति, मर्यादित, 'अठाना' के अध्यक्ष श्री नाजिम हुसैन से हुई। वे पिछले 40 वर्षों से बुनाई से जुड़े हैं। उन्होंने बताया कि अठाना में पिछले 400 वर्षों से बुनाई का काम हो रहा है। इन लोगों को किशन सिंह

रावले चुण्डावत ने राजस्थान से लाकर यहां बसाया था। वैसे राजस्थान की सीमा यहां से मात्र 5-6 किलोमीटर पर ही है। तब यह राजपुताने का हिस्सा था। उन्नीसवीं शताब्दी में आपसी सँदिबाजी के कारण यह ग्वालियर स्टेट में आ गया और आजादी के बाद यह मध्यप्रदेश का हिस्सा बन गया। एक समय यहां करीब 200 से ज्यादा परिवार बुनकरी का कार्य करते थे। इनका कहना है कि ये सभी मूलत : राजपूत थे और इन्होंने ख्वाजा मोईनुद्दीन चिश्ती के समक्ष धर्म परिवर्तन कर लिया और शिया मुसलमान बन गए। इनके गोत्र अभी भी चौहान, कालवा, तंवर, लीथियां सांडेल कुठियार,तिरदिया तथा मायल हैं और ये गोत्र राजपूतों में भी मिलते हैं। वैसे अठाना में पारंपरिक बुनकरी के अलावा विक्रम सीमेंट के सी.एस.आर. के तहत गलीचा (कार्पेट) बुनाई का काम भी होता है। पहले तो पूरा मोहल्ला बुनाई करता था। 15 साल पहले तक यहां करीब 60 हाथकरघे सक्रिय थे। यहां की विशेषता गमछे और पछेवड़ की बुनाई रही है। पछेवड़ यानी दो हिस्सों में जोड़ी गई ओढ़ने या बिछाने की चादर इसे दोहड़ भी कहते हैं। सन 1977 के बाद 'जनता क्लाथ' की बुनाई मिलने की वजह से काम में एकदम उछाल आया। बाद में वह बंद हो गया। इसी के समानांतर खादी बुनाई का काम भी होता था। इसमें समस्या यह आई कि खादी बोर्ड से 6 से 8 महीनों में भुगतान मिलता था। खादी भुगतान में से बोर्ड कुछ राशि बचत के नाम से काटता था। बरसों बीत जाने के बाद भी हमें हमारा ही पैसा वापस नहीं मिल पा रहा है। बुनकर समिति ने इसके बाद मध्यप्रदेश हस्तशिल्प निगम के लिए 'अस्पताल चादरों' की बुनाई बड़े पैमाने पर की। परंतु सरकार ने उससे भी हाथ खीच लिया। श्री हुसैन का कहना था, कि हम लोगों की विशेषज्ञता तो बुनाई करने में है, मार्केटिंग में नहीं। इसलिए धीरे-धीरे काम कम होता गया। अभी वर्तमान में गाजपट्टी का काम म.प्र. हस्तशिल्प विकास निगम ने दिया है तो 8 करघे चल रहे हैं। इन्हें नियामत हुसैन, सफदर, हुसैन, वाहिद हुसैन, शबाना बेगम, नूरजहां बानो, व कुरबान हुसैन चला रहे हैं। अठाना में महिलाएं बराबरी से बुनाई करती रही हैं। अब तो उन्हें भी खेत-मजदूरी करने के लिए बाध्य होना पड़ रहा है।

'अठाना' हस्तशिल्प की धीमी मौत का ज्वलंत उदाहरण है। नाजिम हुसैन का कहना है कि अभी भी यदि ठीक समय पर सूत और भुगतान मिले तो यहां के बुनकर सब कुछ छोड़कर पुनः बुनाई के काम में आना चाहते हैं। पावरलूम और मिलों की वजह से हाथकरघा विलुप्ति के कगार पर पहुंच रहा है। बड़े पैमाने पर उत्पादन की अर्थनीति ने नए सिरे से केन्द्रीयकरण किया है। अठाना जैसे स्थानों पर जहां सैकड़ों परिवार बुनाई के माध्यम से स्वरोजगार से जुड़े थे आज छुट्टी मजदूरी करने को अभिशप्त हैं। क्या इसे विकास का पैमाना माना जाए? गांधी ने कहा है, 'बड़े पैमाने के उत्पाद में उपभोक्ता की सच्ची जरूरतों का ध्यान नहीं रखा जाता। अगर बड़े पैमाने का उत्पादन अपने आप में एक हितकारी वस्तु हो तो उसे अनंत गुना बढ़ सकना चाहिए, लेकिन यह निश्चित रूप से बताया जा सकता है कि बड़े पैमाने का उत्पादन अपने साथ अपनी मर्यादाएं लेकर चलता है। अगर दुनिया के समस्त देश बड़े पैमाने की उत्पादन पद्धति को अपना लें, तो उनके माल के लिए बड़े बाजार नहीं मिलेंगे। उस स्थिति में बड़े पैमाने के उत्पादन को रुकना ही होगा।' यह तो दिखाई दे रहा है कि बड़े-बड़े उद्योग अब अपना बोझ न उठा पाने की वजह से ढह रहे हैं, लेकिन क्या ग्रामोद्योग पुनः पनप पायेंगे?

जावद मूलतः पारंपरिक वस्त्र छपाई केन्द्र रहा है। जिस मोहल्ले में यह काम बड़े पैमाने पर होता था। वह अठाना दरवाजा कहलाता है। यह जावद नगर का हिस्सा है। किसी समय यहां ब्लॉक प्रिंटिंग की बेहद समृद्ध परंपरा रही है। यहां घर-घर में छपाई का काम होता था। जावद के अपने विशिष्ट ब्लॉक भी थे। धीरे-धीरे यहां पर काम कम हुआ। इसके बाद यहां के छपाईगर बड़े पैमाने पर मोर बूटी जो कि मध्यप्रदेश राजस्थान व गुजरात के भीलों की पसंदीदा बूटी रही है, की छपाई का काम करने लगे। यहां छपाई होती थी, और धुलाई एवं फिनिशिंग का काम तारापुर उम्मेदपुर में होता था। यहां अब एक ही कारखाना फरीद मोहम्मद पिता इस्माइल छीपा का बचा है। कुछ वर्ष पहले तक यहां करीब 10 कारखाने थे। फरीद मोहम्मद अपनी पत्नी श्रीमती नूरबानो के साथ मिलकर अभी भी यह कार्य करते हैं। उन्हें थोड़ा काम मध्यप्रदेश हस्तशिल्प विकास निगम से मिलता है। बाकी का खुद का भी कुछ काम है। महीने में 20-25 हजार तक

की बचत हो जाती है। वे अब पूरी तरह से रासायनिक रंगाई व छपाई कर रहे हैं। उनकी तीसरी पीढ़ी यह कार्य कर रही है। परंतु कम आमदनी और अधिक श्रम लगने के कारण न तो मजदूर मिल पा रहे हैं और न ही अगली पीढ़ी इस काम में आगे आ रही है। उनका अपना लड़का भी इस काम को आगे बढ़ाने में रूचि नहीं रख रहा है। यदि तत्काल कोई सुधार नहीं हुआ तो जावद में यह शिल्प विधा पर विराम लग जाएगा।

श्री अब्दुल सत्तार पठान मूलतः जोधपुर के रहने वाले हैं। पहले उनका खुद का छपाई का कार्य था, जो अब बंद है। अब्दुल इसके बाद तारापुर का जॉब वर्क करने लगे। खासकर मोरबूटी (भिण्डी) छापने का। पहले बारहों महीने काम चलता था। अब वह भी कम हो गया। साथ ही भुगतान भी बहुत कम है। एक बार में करीब 800 मीटर कपड़ा आता है और उसमें मोरबूटी छापने के मात्र 3,400 रुपए मिलते हैं। यानी 4 रुपए प्रति मीटर। इतना कपड़ा छापने में दो लोगों को करीब 15 दिन लग जाते हैं। पठान की भी तीसरी पीढ़ी यह काम कर रही है। वे कहते हैं कि हम तो पुश्तैनी यही काम करते आए हैं, कुछ और आता ही नहीं। जावद (अठाना दरवाजा) की स्थिति नैराश्य देने वाली है। अपवाद छोड़ दें तो तकरीबन सभी पारंपरिक शिल्प केन्द्रों के हालात दिनों दिन बदतर होते जा रहे हैं।

कहानी का तीसरा हिस्सा या किरदार दो जुड़वा गांव हैं। तारापुर-उम्मेदपुर। इनके बीच बहती गंभीरी नदी इन्हें एक-दूसरे से अलग करती है। शिल्प कलाओं का यह त्रिकोण एक और सुंदर उदाहरण प्रस्तुत करता है। सर्वधर्म समभाव का। अभी तक हम जिन दो स्थानों में गए थे, उनमें अठाना में शिल्पकार शिया मुसलमान थे। जावद (अठाना दरवाजा) में हमे मुस्लिम (सुन्नी) छीपा समुदाय के छपाईगर मिले और यहां तारापुर-उम्मेदपुर में छपाईगरों को पूरा समुदाय हिन्दू नामदेव छीपा समुदाय है। ये दो छोटे-छोटे गांव भारतीय पारंपरिक वस्त्र छपाई व रंगाई परंपरा के अद्वितीय प्रतीक हैं। यहां इस विधा के प्रत्येक अनुषंग यानी अलीजरीन रंगाई (छपाई) डाबू- (इंडिगो) छपाई, इंडिगो रंगाई, बटिक, टी.सी प्रिंट, नांदणा, रासायनिक रंगाई छपाई और बंधेज, सभी विधाओं में बेहद सुंदर कार्य होता है। यह प्राकृतिक इंडिगो रंगाई के बचे हुए इनेगिने केंद्रों में से यह एक है और मध्यप्रदेश में तो इसका एकमात्र केंद्र है। मध्यप्रदेश में कार्यरत हिन्दू छीपाओं का भी यह एकमात्र केंद्र है। यहां की विशिष्टतम छपाई नांदणा और जाजम हैं।

तारापुर उम्मेदपुर में पिछले करीब 600 वर्षों से सतत् वस्त्र छपाई का काम हो रहा है। इसी परंपरा के एक संवाहक श्री पवन गंगवाल ने बताया कि उनका परिवार पिछले 100 वर्षों से भी ज्यादा से लगातार छपाई का काम कर रहा है। उनके पिता श्री रामचंद्र अग्रवाल ने शांतिनिकेतन में बटिक का कार्य सीखा था और इस दूरदराज के गांव में वह कार्य शुरू किया था। एक समय था जबकि गंभीरी नदी में कपड़ा धोने और सुखाने के लिए नंबर लगते थे। धीरे-धीरे यहां भी कार्य कम होता चला गया। अब यहां करीब 10 परिवार इस कार्य को कर रहे हैं। इनमें विनय झरिया अलीजरीन और दाबू और मोरबूटी की छपाई करते हैं। बनवारी और पवन झरिया भी यही कार्य करते हैं। यहां पर छपाई होने वाले अधिकांश वस्त्रों की खरीदी म.प्र. हस्तशिल्प विकास निगम ही करता है। ये छपाईगर प्रदर्शनियों वगैरह में भी लगातार जाकर अपना कार्य भी करते हैं। उम्मेदपुर के अशोक बेसुंडा, बांधणी का कार्य करते हैं। लुगड़े, अधिक बनाते हैं। यहां पर महिलाएं अपने खाली समय में बांधणी, बंधेज-बांधने का काम करती है। तारापुर-उम्मेदपुर का शानदार इतिहास रहा हैं। वर्तमान में यहां कार्य कम जरूर हो गया है, लेकिन छपाईगरों की अगली पीढ़ी भी साथ में काम करने लगी है, यह भविष्य के लिए अच्छा संकेत भी है। इस छपाई केंद्र की एक अन्य महत्वपूर्ण बात यह है कि यहां अधिकांशतः मध्यप्रदेश,राजस्थान व गुजरात के आदिवासियों के लिए छपाई होती रही है। कम मात्रा में अभी भी छपाई हो रही है। प्रत्येक अंचल के अपने प्रतीक हैं। तमाम विषम परिस्थितियों के बावजूद तारापुर -उम्मेदपुर में जिस परिष्कार के साथ छपाई, रंगाई व अन्य विधाओं का कार्य हो रहा है वह भविष्य के प्रति आशान्वित करता है।

निष्कर्ष: इस कहानी से स्पष्ट होता है कि किस तरह परस्पर निर्भरता से स्थानीय उद्योगों ने शताब्दियों तक अपने क्षेत्र की आर्थिक स्थिति को संवारा है। यहां के उदाहरण से समझें तो अठाना बुनाई का केंद्र है और जावद और तारापुर -उम्मेदपुर छपाई के। जो सादा कपड़ा अठाना में बुना जाता था, उसकी छपाई मात्र 5 मिलोमीटर दूर हो जाती थी। और दोनों के व्यवसाय चलते थे। जो अतिरिक्त मांग होती थी, वह कपड़ा बाहर से मंगाया जाता था।

एक ऐतिहासिक तथ्य यह भी है कि भारत की वस्त्र बुनाई और छपाई की गुणवत्ता से घबराकर ही ब्रिटेन की सरकार ने सन 1700 ईस्वी में भारतीय छपे कपड़े के आयात को प्रतिबंधित कर दिया था। इतना ही नहीं उन्नीसवी शताब्दी में इंग्लैंड जिस औद्योगिक क्रांति का श्रेय लेता है, वह क्रांति भारत से लूटे हुए धन के माध्यम से ही आई थी। क्योंकि उन उद्योगों में 50 प्रतिशत धन भारत का ही लगा था। औद्योगिक क्रांति ने भारत जैसे उद्योग प्रधान देश को कच्चे माल की आपूर्ति वाले देश में बदल दिया और भारत सहित एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमेरिका के सभी पारंपरिक व्यवसायों को कमोवेश छिन्न-भिन्न कर दिया। आज पूरी दुनिया के कुल हाथकरघों में से 95 प्रतिशत भारत में ही हैं। भारतीय शिल्पकारों का अपने शिल्प से असाधारण लगाव था जिसकी वजह से ये पारंपरिक शिल्प/व्यवसाय बच पाए। अठाना-जावद-तारापुर-उम्मदेपुर जैसे स्थान स्थानीयता के प्रतीक हैं और उनसे हम समझ सकते हैं कि किस तरह से उत्पादन के खर्चों को कम किया जा सकता है। यातायात के बढ़ते दबाव को कम किया जा सकता है और न्यूनतम में कैसे रोजगार निर्माण हो सकता है। आज समस्या यह है कि वैश्विक आर्थिक नीतियां विशालकाय निर्माता कंपनियां को प्रश्रम देने में जुटी हैं। भारत भी उनसे अलग नहीं है। पिछले कुछ वर्षों में बहुत से लघु और मध्यम उद्योग बंद हुए हैं। नई कर प्रणाली का सबसे विपरीत प्रभाव कुटीर उद्योगों पर पड़ा है।

ग्रामोद्योगों के इस त्रिकोण की सबसे बड़ी खासियत यह है कि इस कार्य में बाहरी या कृत्रिम ऊर्जा का इस्तेमाल ही नहीं होता। इनकी पूरी प्रक्रिया में कमोवेश बिजली जैसी ऊर्जा की जरूरत ही नहीं पड़ती। इससे अर्थव्यवस्था पर बोझ कम पड़ता है और पर्यावरण को भी नुकसान नहीं पहुंचता। सबसे बड़ी बात तो रोजगार सृजन की ही है। यह भी सच है कि अब यहां रासायनिक रंगों का प्रयोग होने लगा है, लेकिन यदि मानक तय कर दिए जाएं तो पर्यावरण को नुकसान पहुंचने से रोका जा सकता है। इन तीनों जगहों के अध्ययन से यह भी स्पष्ट होता है कि शहरों की ओर बढ़ते पलायन को रोकने के लिए ग्रामोद्योगों को पुनः प्रोत्साहित करना अनिवार्य है।

श्री एक्वा एंड फूड

मछलीपालनः नई राह–नई तकनीक

मछलीपालन में वैज्ञानिक सोच के साथ परिवर्तन करना बेहद महत्वपूर्ण उपलब्धि साबित हो सकती है। वस्तुतः पानी की कमी से नदियां और जलाशय दोनों ही जूझ रहे हैं। अतएव आवश्यकता इस बात की है कि मछली पालन को विकेन्द्रित कर इसे स्थानीय आवश्यकताओं के अनुरूप ही विकसित किया जाए। इसी क्रम में जीनसंवर्धित (जीएम्) मछली का प्रचलन में आना आंशकित कर रहा है। यह कहानी हमें एक नए विषय से साक्षात्कार करवा रही है।

मछली वस्तुतः इस सृष्टि में उभरे जीवन का आदिमतम प्रतीक है। आज से करीब 5 करोड़ 30 लाख वर्ष पूर्व केम्ब्रियन विस्फोट के पश्चात या यूं कहें कि इसके परिणामस्वरुप सृष्टि में प्राणिगत विविधता की शुरूआत हुई और मछली उसकी पहली जीवंत उपलब्धि है। तब से अब तक मानव जाति और मछली का अटूट संबंध बना है। एक-तरह से मछली हमारी आदिमतम् पूर्वज ही है। आधुनिक काल में देखें तो हड़प्पा सभ्यता (सिंधु घाटी सभ्यता) जो कि करीब 2,500 ई.पू. में विद्यमान थी (यानी करीब 4500 वर्ष पूर्व) में मछली भोजन का हिस्सा थी। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में युद्ध के दौरान मछलियों के जहरीले होने या किए जाने का जिक्र आता है। वैसे कौटिल्य अपनी कमोवेश प्रत्येक स्थापना को अपरोक्ष रूप से युद्ध से जोड़ ही देते हैं। राजा सोमेश्वर जो कि विक्रमादित्य अष्टम के बेटे थे ने पहली बार मछलियों का वैज्ञानिक ढंग से वर्गीकरण किया और उन्होंने मीठे पानी की मछलियों और समुद्री मछलियों का अलग-अलग विश्लेषण भी किया था।

आधुनिक भारत में वैज्ञानिक ढंग से तैयार पहले मछली फार्म का निर्माण मद्रास प्रेसीडेण्सी के मत्स्य विभाग ने सन् 1911 में कृष्णा जिले (जो अब आंध्रप्रदेश का हिस्सा है।) के सुनकेसुला गांव में किया था। तभी से इसे कृषि की सहायक गतिविधि के रूप में देखना शुरू किया गया। परंतु इस कार्य को बहुत प्रोत्साहन नहीं मिला। इसके बाद सन 1928 में रायल कमीशन ऑन एग्रीकल्चर (कृषि संबंधी शाही आयोग) ने अपनी रिपोर्ट में कहा था कि भारत में मत्स्य उद्योग के लिए कुछ भी नहीं किया गया है। सन 1940 में अधिक अन्न उपजाओ अभियान के तहत बैरकपुर, कलकत्ता और मंडपम में मत्स्य केंद्र बनाए गये। सन् 1947 में देश के पहले मछली अनुसंधान केंद्र की स्थापना भी बैरकपुर में ही हुई। आजादी के बाद भी लगातार इस दिशा में कार्य होता रहा है और इस श्रृंखला की नवीनतम कड़ी 'प्रधानमंत्री मत्स्य संपदा योजना 2020-21' है।

अब कुछ मूल आंकड़ों पर नजर डालते हैं। दुनियाभर में मछली का कुल व्यापार करीब 98.4 अरब डॉलर का होता है और इसमें चीन की सबसे ज्यादा हिस्सेदारी है। भारत मछली के व्यापार में विश्व में तीसरे नंबर पर है और हमारी वैश्विक मछली व्यापार में हिस्सेदारी करीब 8 प्रतिशत की है। भारत में मछलियों का कुल वार्षिक उत्पादन करीब 1.76 करोड़ टन है। इसमें से समुद्री मछलियों का हिस्सा 41 लाख टन है और मीठे पानी की मछलियों की हिस्सेदारी करीब 1.21 करोड़ टन की है। सन 2022 में भारत से मछलियों का निर्यात करीब 519 अरब रुपयों का था। जबकि भारत में उत्पादित मछली का कुल मूल्य करीब 1695.33 अरब रुपए बैठता है। मछली व्यापार का भारत के सकल घरेलू उत्पाद (जी डी पी) में योगदान करीब एक प्रतिशत का है तथा पृथक कृषि जीडीपी की बात करें तो उसमें इसकी भागीदारी करीब 5 प्रतिशत बैठती है।

मछलियों को लेकर बहुत से रोचक तथ्य भी हमारे सामने आते है। भारत में सबसे महंगी मछली का नाम 'घोल' है। यह महाराष्ट्र के पालघर क्षेत्र में पाई जाती है। इसे सी गोल्ड' भी कहते हैं। इसके पेट में एक थैली होती है जिसमें काफी महत्वपूर्ण औषधीय सामग्री होती है। पालघर के एक किसान चंद्रकांत तारे मानसून के बाद मछली के शिकार पर से प्रतिबंध हटने के बाद जब समुद्र में गए तो उनके जाल में 157 घोल मछलियां फंस गई। इन मछलियों से उन्हें 1.33 करोड़ रुपए की आय हुई थी। यानी उन्हें प्रति मछली करीब 84713 रु. प्राप्त हुए। एक अनुमान के अनुसार इस मछली के मांस का न्यूनतम मूल्य 8 से 10 हजार रुपए प्रतिकिलो होता है।

उपरोक्त संदर्भ में यदि वर्तमान परिस्थिति का अध्ययन करें तो हम पाते हैं कि भारत में आधुनिक तरीके से मछली के बीज (सीड) तैयार करने वाले फार्म (हेचरी) बहुत ही कम हैं। भारत में कुल 251 फिश हैचिरी है, जिनमें मछलियों की वैज्ञानिक तरीके से ब्रीड़िग की जाती है। उनका बीजकरण (Seeding) करके मछली पालने वाले जो कि तालाबों या बांधों के सरोवरों में व्यावसायिक मछली पालन करते हैं, को भेजी जाती हैं। ऐसी ही एक नर्सरी मध्यप्रदेश के बड़वानी जिले के ग्राम सुंद्रेल में स्थित है। श्री एक्वा एण्ड फूड कंपनी को श्री रमेश चंद्र वर्मा, कैलाश चन्द्र वर्मा और सावन कुमार वर्मा इसे संचालित करते हैं। यहां मूलत : मछली बीज का उत्पादन करते हैं। बीज का नाम सुनते ही खाद्यान्न या सब्जी आदि के बीजों का ध्यान हो आता है। ऐसा ही नर्सरी नाम के साथ भी है।' हमारा यह अध्ययन एक ऐसे केंद्र पर है जो मछलियों के अंड़ों को बच्चों तक की स्थिति में लाकर उन्हें मछली पालने वाले समुदाय को विक्रय करता है। यह अपने आप में अनूठा सा लगने वाला कार्य है। साथ ही यह मध्यप्रदेश का एकमात्र निजी क्षेत्र मछली बीज उत्पादन केन्द्र भी है।

मूलत : कृषक वर्मा परिवार ने मछली पालन का कार्य सन 1988-89 में शुरू कर दिया था। श्री रमेश चन्द्र वर्मा को बीएससी (कृषि) के अध्ययन में एक अध्याय मछली पालन (फिशरीज) पर था। उनकी इसमें रूचि का एक कारण यह भी था कि इस कार्य में किसी भी स्तर पर कोई प्रतिस्पर्धा नहीं थी। समस्या यह थी कि तब (बीज) मछलियों के छोटे बच्चे कलकत्ता से लाने पड़ते थे और इसमें लंबा समय लगता था। इस दौरान कई बार बीज बच नहीं पाते थे। अतएव यह बात दिमाग में आई कि स्वयं ही बीज निर्माण का कार्य प्रारंभ किया जाए। उस दौरान इस कार्य हेतु एक लाख रुपए की सब्सिडी का प्रावधान था। भले ही निवेश दस लाख को हो पर अधिकतम सब्सिडी एक लाख रुपए ही थी। इसके बाद नील क्रांति योजना आई इसके अन्तर्गत निजी क्षेत्र में मछली पालने के लिए तालाब बनाने का प्रावधान था। इसमें एक हेक्टेयर तालाब पर पांच लाख रुपए की सब्सिडी मिलती थी। तदुपरांत बलराम तालाब योजना आई जिसमें भूमि क्षरण को रोकने के लिए 80000 रुपए की सब्सिडी मिलती है।

परंतु श्री वर्मा उसके पहले से ही करीब 2.90 लाख रुपए के ऋण से 6 तालाब (pond) जिसमें 2 कच्चे और 4 पक्के थे बना चुके थे। परंतु वह बाद में भी सरकारी योजनाओं का लगातार लाभ लेकर अपने कार्य को विस्तारित करते रहे। स्वयं ही लगातार अध्ययन कर नए तरह से कार्य करते रहे। वैसे मत्स्य विभाग भी लगातार मदद को तत्पर रहता था। आप लोगों ने शुरूआत भारतीय मेजर मछलियों (India major) कतला, रोहू और मृगल से की। इनके बीज तैयार करने शुरू किए। साथ ही वर्तमान में प्रचलित प्रधानमंत्री मत्स्य संपदा योजना के अनुसार निजी भूमि पर तालाब बनाकर, जो अन्य लोग मछली पालन करते हैं, उनको मछली के बीज (सीड), उनका भोजन और तकनीकी सलाह देना भी शुरू किया। इसी के समानांतर यह प्रयास भी बड़े पैमाने पर किया कि नए किसानों को मछली पालन के लिए तैयार किया जाए। जाहिर है इसके लिए कार्य को और अधिक विस्तारित करने की आवश्यकता थी।

वर्तमान में यह मछली उत्पादन केंद्र 60 बीघे में फैल गया है और इसमें करीब 110 छोटे तालाब हैं। इसमें मछलियों के पालन-पोषण (Rearingpond) के अंडे से लेकर शुक्राणु (Spurm) तक तैयार किये जाते हैं। थोड़े विकसित होने पर ही इन्हें पालन पोषण (Rearing) पांड में डालते हैं। अभी इस केन्द्र में कतला, कामन काज रेह (रोहू), मृगल, सिल्वर कार्प एवं ग्रास कार्प, पंगेसियस को ब्रीड(जन्म) करते हैं। यह काफी परिष्कृत प्रक्रिया है, और इसमें करीब 72 घंटे लगते हैं। अंडे (स्पान) 72 घंटे में तैयार होता है। इसके बाद की प्रक्रिया स्पॉन फ्रॉय spon FRY कहलाती है। यह करीब 10 से 12 दिन की होती है और इसमें बच्चा आधा से एक इंच का हो जाता है। इसके बाद इसकी बिक्री की जाती है। एक विशेष प्रकार के पाली बैग में 3 लीटर पानी में आधे से एक इंच तक के करीब 2,500 बच्चों को डाला जाता है। इसके बाद इसमें अतिरिक्त ऑक्सीजन डाली जाती है। इस प्रक्रिया के बाद अगले 12 से 36 घंटों के मध्य बच्चों को निश्चित स्थान पर पहुंचना चाहिए। यदि 12 घंटे का सफर है तो 2500 बच्चे डाले जाते हैं। इसमें कम है का सफ़र तो 3000 तक डाले जा सकते हैं। परंतु यदि 12 घंटे से ज्यादा का सफर है तो अधिकतम 1000 बच्चे ही थैली में डाले जाते हैं। यह

बच्चे थैली में अधिकतम 36 घंटे तक ही यह जीवित रह सकते हैं। इनको ज्यादातर ट्रेन से और अपवादस्वरूप हवाई जहाज से भेजा जाता है। सबसे ज्यादा ध्यान इस बात का रखना पड़ता है कि बच्चे को टेंक से जिस तापमान पर उठाया गया है, वही तापमान पानी का बना रहना चाहिए।

अभी इन्हें यहां से महाराष्ट्र, राजस्थान,गुजरात व मध्यप्रदेश के अन्य हिस्सों में इनको भेजा जाता है। अधिकांशतः मछली पालने वाले स्वयं ही केन्द्र पर आकर ले जाते हैं। यहां से उन्हें ठीक से पैक करके दे दिया जाता है। एक सवाल यह भी सामने आया कि गिनती कैसे करते है? तो जवाब आया छन्नी या कपड़े से बड़े टैंक से उठाकर इन्हें बाल्टी में रख देते है। सामान्यतया 2 इंच गोलाई की छन्नी में आधा इंच के करीब 300 बच्चे आ जाते हैं। श्री कैलाश वर्मा ने बताया कि राष्ट्रीय मत्स्य विकास बोर्ड (National Fishries development Board, NFDB) के मापदंडों के हिसाब से हमारी मछलियों के जीवित रह पाने की दर अच्छी है।

इसके बाजार के बारे में पूछने पर उन्होंने बताया कि किसान सामान्यतया तालाब या अन्य जलइकाई (Water Bodies) राज्य सरकार या भारत सरकार से वार्षिक किराये पर लेते हैं। मध्यप्रदेश के धार जिले में शासकीय मत्स्य विभाग ने स्थानीय लोगों को एकसाथ इकट्ठा कर समितियों का गठन कर दिया है। वे लोग इन तालाबों में मछली पालने का कार्य करते हैं। उन्होंने बताया कि धार जिले में कतला मछली की काफी मांग है। बीज की सरकारी गाइड लाइन के अनुसार 300 रुपए में 1000 बीज देने होते हैं। पर हम उससे भी कम पर यानी 200 रुपए में दे देते हैं।

बात पुनः मछली के बीज से बच्चे तैयार करने की प्रक्रिया पर आ गई। श्री सावन ने बताया कि सबसे महत्वपूर्ण है अंडा देनेवाल ब्रूडर (Brooder) मछली को संभालना। कच्चे तालाब में रखने से ये बीमार होने लगती हैं। पक्के टैंक में डालने के बाद नर डंसम और मादा (Female) को अलग-अलग करना होता है। (यह पहचान काफी मुश्किल होती है) साथ ही साथ लगातार निगरानी रखनी होती है कि मछली का बच्चे देने का समय (Breedingtime) कब आने वाला है। उस स्थिति पर आने के बाद इन्हें हारमोंस के इंजेक्शन लगाए जाते हैं, उनके यूटररी ग्लेडं में। (मछली को इंजेक्शन लगाना?) इसके बाद नर और मादा दोनों को ब्रीडिग पांड में छोड़ देते है। हर मछली का अलग से ध्यान रखना होता है। इस दौरान पांड के तापमान का भी ध्यान रखना है। पर्यावरणीय परिस्थिति में आ रहे परिवर्तन का इन पर सीधा प्रभाव पड़ता है। इसी वजह से इनके प्राकृतिक गर्भादान में (नेचुरल ब्रीडिग मे) भी समस्या आती है। मछली पहले 20 लिटर पानी तक में रह लेती थी अब तो 10 लिटर में भी दिक्कत होती है।

शाम को 6 बजे इंजेक्शन लगाते हैं तो सुबह 6-7 बजे तक अंडे इकट्ठा हो जाते हैं। एक बार में 230 करोड़ स्पॉम यदि निकलते हैं तो उसमें से करीब 4.5 करोड़ ही FRY यानी बड़े हो पाते हैं। बड़े होते-होते ये करीब 7 लाख रह जाते हैं और अंततः 1.5 से 2 लाख ही बिक्री लायक बचते हैं। इस कार्य में जोखिम लगातार बढ़ रहा है। समय पर बारिश न होने से और लगातार गर्मी पड़ने के कारण मछलियों के यौन व्यवहार में भी परिवर्तन आ रहा है। हमारे यहां कतला की ब्रीड़िग में काफी समस्या आ रही है। पानी के मापदंड भी एक से नहीं रह पा रहे हैं। टी डी एस, अमोनिया का ध्यान भी रखना पड़ता है। टैंक में पानी इस तरह से डालना पड़ता है कि उसमें झाग बने और आक्सीजन घुलती रहे।

श्री सावन ने बताया कि यह मध्यप्रदेश की सबसे बड़ी हेचरी है और इसे पूरे भारत की सर्वश्रेष्ठ हेचरी का पुरस्कार भी मिल चुका है। उनका कहना है कि अब तकनीक बदल रही है। ब्रीड में लगातार सुधार (अपग्रेड) हो रहा है। अब जी. आई. कतला के साथ ही जेनेटिक मोडिफाइड (जीएम) सर्टिफाइड मछलियों की मांग बढ़ रही है। इसकी अलग ब्लड लाइन चलती है। इन मछलियों का आकार भी बड़ा होता है। चर्चा के दौरान यह बात भी सामने आई कि अब जीन संवर्धित फसलों (Gmcorps) की तरह जीएम संवधित मछलियां (G.M.FISh) भी प्रचलन में आ गई हैं। इनके बीज अभी भारत सरकार ही दे रही है। इसके ब्रूडर तैयार करना काफी जटिल है। वैसे दावा यह किया जा रहा है कि यह अधिक पौष्टिक है। श्री वर्मा का कहना था कि अभी भारत में एक्युवेशन प्लांट ठीक से नहीं बन पा रहे हैं, इन्हें चीन से मंगाना होता है। यह ब्रीड़िग का सबसे

महत्वपूर्ण उपकरण है। इसमें अंडों को 72 घंटे रखना पड़ता है। तभी बच्चे बन पाते हैं। ब्रीड़िंग का समय फरवरी से अगस्त तक का होता है।

इस उत्पादन केंद्र में अब सजावटी (Ornamental) मछलियों का उत्पादन भी शुरू किया है। इन्हें हम अपने घरों के एक्वेरियम में रखते हैं। यहां जापानीस कार्प, चाइनीस कार्प, इंडियन कार्प, रेड गोल्ड फिश, ब्लेक गोल्ड फिश व गप्पी मछलियां पैदा की जाती हैं। इनको इंदौर मुंबई, उदयपुर, जयपुर, रायपुर, अहमदाबाद आदि स्थानों पर भेजा जाता है। श्री वर्मा ने बताया कि नर्सरी में बारिश में करीब 60 लोग कार्य करते हैं और बाकी दिनों में करीब 20 लोग कार्यरत रहते हैं।

निष्कर्ष: भारत में मत्स्य पालन को लेकर कमोवेश स्थितियां बहुत अनुकूल नहीं है। भारत मछली उत्पादन में विश्व में दूसरे स्थान पर हैं और निर्यात में तीसरे स्थान पर। परंतु आज सबसे बड़ी समस्या के रूप में बढ़ता जलप्रदूषण सामने आ रहा है। हमारी तकरीबन सभी नदियां और प्राकृतिक तालाब प्रदूषण की चपेट हैं और यही मछलियों के जीवन के लिए बहुत बड़ा खतरा है। दूसरी बड़ी समस्या बांध हैं। इनके विशाल जलाशयों में पानी ठहर जाता है और मछलियों की न केवल प्रजनन की क्षमता पर विपरीत प्रभाव पड़ता है बल्कि मछली की गुणवत्ता और उसके आकार व वजन पर खराब असर होता है। भारत में मछलियों को लेकर ठीक से आंकड़े (डेटा-बेस) भी मौजूद नहीं हैं। इस क्षेत्र में शोध और विकास का कार्य भी बहुत ही कम हो रहा है। इतना ही नहीं बहुत सीमित नस्ल की मछलियों पर कार्य हो रहा है तथा शोध और मछली पालन समुदाय से इसका जुड़ाव भी बहुत कम है। समुद्र से अत्यधिक मछली पकड़ने की वजह से भारत में मछली उत्पादन में अब गिरावट के आसार नजर आने लगे हैं। वहां मछलियां की तादाद लगातार घट रही है साथ ही जिन तालाबों आदि में मछली बीजों के माध्यम से मछली पालन हो रहा है वहां भी उत्पादन में यथोचित वृद्धि सामने नहीं आ रही है। उपरोक्त विषम परिस्थितियों के चलते नए तरीकों से मछली पालन के जो प्रयास हो रहे हैं उनमें मछली बीज उत्पादन केंद्र या नर्सरी का महत्व बहुत बढ़ जाता है। इसमें एक ओर जहां गुणवत्ता बरकरार रखी जा सकती है, वहीं मछली पालन को अधिक व्यापक बनाकर, अधिक रोजगार के साधन भी तैयार किए जा सकते हैं।

परंतु इस केंद्र के माध्यम से जीन सवंर्धित (जीएम) मछली की बात सामने आना वास्तव में बेहद चिंता का विषय है। इस तरह से तो मछलियों की मूल प्रजातियां, जो कि भारत केंद्रित हैं, पर संकट खड़ा हो जाएगा। जिस तरह से जीएम खाद्यान्न को लेकर बहस और विरोध सामने आ रहा है, वैसी कोई स्थिति मछलियों को लेकर न बनना वास्तव में चिंता का विषय है।

श्री गुरुकृपा ग्रीन हाउस नर्सरी

खेती की पाठशालाः नई खेती नए संदर्भ

जलवायु परिवर्तन के इस काल में खेती सबसे ज्यादा प्रभावित एवं जोखिमभरी हो गई है। ऐसे में सब्जी/फल आदि की रोपणी-नर्सरी किसान को स्वस्थ पौधे समय पर प्रदान करने का एक महत्वपूर्ण माध्यम बन सकती है। साथ ही इससे कृषि में श्रम एवं जोखिम दोनों में कमी आ सकती है। इसी के साथ मिट्टी को भी कुछ दिन आराम मिल सकता है। अभी यह प्रयोग हाईब्रीड पर ही हो रहा है। यदि इसे जैविक खेती के हिसाब से विकसित किया जाए तो अधिक लाभकारी सिद्ध हो सकता है।

कृषि का इतिहास तो बहुत पुरातन है। ऐसा माना जाता है कि इसकी शुरूआत करीब एक लाख बरस पहले हो गई थी। तब इसका स्वरूप काफी कुछ वनोपज जैसा ही था। करीब 11 हजार वर्ष मनुष्य ने वनोपज से हटकर खेती का उपक्रम प्रारंभ किया। जाहिर है, तब बीजों का एकत्रीकरण कर उसे वनों से पृथक कर साफ की गई भूमि में डाला गया होगा। शायद उसी दौर में मनुष्य ने अपने अनुकूल बीज और बीज के अनुकूल मिट्टी की पहचान भी सीख ली होगी। सिंधु घाटी (हडप्पा सभ्यता) सभ्यता के दौरान हमें सुंदर उद्यानों के आभास मिलते हैं। जाहिर है, उद्यान एवं लैंडस्केपिंग के लिए तो यह आवश्यक है कि पौध रोपणी या नर्सरी में पहले से तैयार हों तभी तो उन्हें सजावटी हिसाब से लगाया जा सकता है। वैसे हमारे आधुनिक समय में विश्व में पहली व्यावसायिक पौधरोपणी

या नर्सरी की शुरूआत सत्रहवीं शताब्दी में इग्लैंड में मानी जाती है। भारत में भी सन 1820 ईस्वी से इस दिशा में कार्य की शुरूआत बॉटनिकल सोसाइटी के गठन के साथ शुरू हो गई थी। समय के साथ इस विधा में विकास होता गया। नर्सरी से सामान्यतया हमारा आशय ऐसी पौधरोपणी से होता है जहां पर तमाम किस्म के फल-फूल सब्जी की रोपणी जहां से हम अपने घरों आदि में लगाने को पौधे लाते हैं। इसके अलावा वन विभाग भी अपनी नर्सरी में तमाम तरह के वृक्षों आदि की पौध तैयार करता है। भारत की सबसे बड़ी नर्सरी आंध्रप्रदेश के कडियाम में स्थित सत्यनारायण नर्सरी है। यह करीब 10,000 (दस हजार एकड) में फैली है। यहां रोज का लेनदेन करीब 5 करोड़ रुपए यानी वार्षिक करीब 1825 करोड़ का है। यहां विकसित होने वाले सबसे कीमती पौधे का मूल्य 10 लाख रुपए है।

भारत में पिछले सात दशकों में कृषि के क्षेत्र में काफी परिवर्तन आए हैं। कृषि अब एकल व्यवसाय न रहकर परस्पर निर्भरता आधारित हो रही है। एक समय था, जब किसान पूरी तरह से आत्मनिर्भर था। बीज,खाद, पानी जैसी खेती की जरूरत की सभी चीजों पर उसका नियंत्रण था। व्यावसायिक या औद्योगिक खेती के युग में अब किसान की आत्मनिर्भरता दिवास्वप्न की बात होती जा रही है। इस प्रणाली की अपनी विशिष्टताएं और गुण दोष हैं। दोष अधिक होने से ही शायद पुन: जैविक खेती की ओर लौटने के प्रयास हो रहे हैं। यहां पर हम उस विषय पर विचार न करके, वर्तमान कृषि जगत में सहायक के रूप में सामने आई विशाल स्तर पर कार्यरत पौधशाला या प्लांट नर्सरी के नए स्वरूप सीडलिंग ट्रे पद्धति को लेकर चर्चा करेंगे। यह कृषि कार्य में जुटे कृषकों को बहुत सी जटिलताओं से मुक्ति दिला कर उन्हें अपनी खेती पर अधिक एकाग्र होने और उनके शारीरिक श्रम को संयमित करने में भी मददगार सिद्ध हो रही है।

मध्यप्रदेश का पश्चिमी निमाड़ अंचल नर्मदा नदी के किनारे बसा है। यह अभूतपूर्व उपजाऊ क्षेत्र है, जो अपनी कपास की खेती के लिए जगप्रसिद्ध है। यहां की मिट्टी भी 'ब्लैक कॉटन साइल' यानी कपास वाली काली मिट्टी कहलाती है। यहां पर गुजरात से आए पाटीदार समाज के लोग बड़े पैमाने पर खेती करते हैं। पाटीदार समाज खेती में नवाचार के लिए भी जाना जाता है। हमारा वर्तमान अध्ययन यह उक्ति कि 'आवश्यकता ही अविष्कार की जननी है' को भी चरितार्थ करता है।

हमने यह अध्ययन पश्चिम निमाड़ की दो पौध नर्सरियों पर किया है। अपने इस कार्य के दौरान हमने सर्वप्रथम ***'श्री गुरूकृपा ग्रीन हाउस नर्सरी'*** अंजड़, जिला बड़वानी को चुना। श्री जयदेव पाटीदार एवं

हरिओम पाटीदार जो भाई हैं, ने इस उपक्रम को आरंभ किया था। अब इसमें उनकी अगली पीढ़ी रुद्र जयदेव पाटीदार और भरत हरिओम पाटीदार भी शामिल हो गए हैं। जयदेव जी ने बताया कि वे तो पहले पारंपरिक खेती करते थे। इसके अन्तर्गत कपास, मक्का, सोयाबीन और मूंगफली की पैदावार करते थे। वर्ष 2004 में इन्होंने ड्रिप सिस्टम से सिंचाई करके पारंपरिक खेती को तकनीकी खेती में बदलने की शुरूआत की। नर्सरी की शुरूआत सन 2007 में पुणे के किसान मेले में इजरायली कंपनी नेटाफिन के स्टाल पर उनके कृषि अर्थशास्त्री हेवदव उपेज से हुई चर्चा के बाद हुई। हमने पहले पहल स्वयं के लिए नर्सरी शुरू की। इसके अन्तर्गत बांस बल्ली का नेट हाउस बनाया। तब ये 5 एकड़ में मिर्ची लगाते थे और इसमें 40 से 50000 पौधों की जरूरत पड़ती थी। सबसे पहले जमीन में क्यारी बनाकर नर्सरी की शुरूआत की। अपने खेत में स्वयं द्वारा तैयार पौधे ही लगाते थे। जाहिर है जितनी जरूरत होती थी, पौधे तो उससे ज्यादा लगाना पड़ते थे। करीब 70000 रोपे तैयार हो जाते थे। जो अतिरिक्त 20000 पौधे या रोपे बचते थे, उन्हें आस-पास के किसानों को बेच देते थे। इस तरह से अनजाने में ही नर्सरी व्यवसाय शक्ल लेने लग गया।

जमीन में पौध तैयार करना काफी श्रमसाध्य प्रक्रिया है और इसमें पौध के पनपने और बड़े होने में भी अधिक समय लगता था। तभी कोकापीट नारियल के रेशे से तैयार मिट्टी आधारित सीडलिंग ट्रे पद्धति से पौध तैयार करने की जानकारी मिली। विस्तृत अध्ययन के बाद इसकी प्रयोगात्मक शुरूआत की। सन 2007 से 2011 तक केवल मिर्ची के साथ इस प्रयोग को आगे बढ़ाया। तब यह समझ में आया कि ट्रे नर्सरी में पौध/रोपे तैयार करने में 8 दिन की बचत होती है। खेती के कार्य में 8 दिन का अतिरिक्त समय बहुत महत्वपूर्ण होता है। अंतिम फसल के भाव भी अच्छे मिलते हैं। दूसरा फायदा यह सामने आया कि इसमें पौधे अधिक स्वस्थ व मजबूत तैयार होते हैं और बेचने पर भाव भी बेहतर मिलते हैं। अभी तक यह कार्य सामान्य ग्रीननेट वाली खुली नर्सरी में ही हो रहा था।

सन 2011-12 में पहला पॉली हाउस राज्य उद्यानिकी विभाग द्वारा प्रदत्त सब्सिडी के माध्यम से तैयार किया। यह करीब एक एकड़ में फैला था और इसकी कुल लागत 37.40 लाख रुपए आई। इसमे से करीब 50 प्रतिशत यानी 18.50 लाख रुपए सब्सिडी के रूप में प्राप्त हुए थे। यह निमाड़ की खेती में एक मूलभूत बदलाव था। इसके पश्चात सात और पॉली हाउस का निर्माण किया, लेकिन किसी में भी सरकारी सब्सिडी या मदद नहीं ली। परंतु दूसरी बार सब्सिडी सन् 2020 में नेट हाउस (Net House) बनाने के लिए ली।

एक-एक एकड़ के दो नेट हाउस बनाए जिनकी लागत करीब 28.40 लाख आई और इसमें करीब 14.20 लाख रुपए सब्सिडी के रूप में प्राप्त हुए।

जयदेव जी ने कहा कि हमारा कार्य लगातार बढ़ता जा रहा था और यह भी सच है कि कृषि कार्य में एक-एक दिन महत्वपूर्ण होता है। हमारे सामने विभिन्न पौधे/रोपों की मांग आने लगी थी। यह प्रतीत होने लगा था कि केवल श्रमिकों के भरोसे इस कार्य को समय पर कर पाना कमोबेश असंभव ही है। अतएव हमने रोपण के कार्य में मशीनों के प्रयोग के बारे में विचार किया और अपने यहां आटोमेशन की शुरूआत कर दी। इस प्रक्रिया में हमने सबसे पहले सीड सोइंग यूनिट (बीज बोने वाली इकाई) स्थापित की। यह पूरी प्रक्रिया कोकोपीट यानी नारियल रेशे को कम्पोसट करने के बाद उससे तैयार मिट्टी के माध्यम से संपन्न की जाती है। इसमें पोरिसिटी (संध्रता, छिद्रिल, छिद्रिता) होने की वजह से पौध जड़ जल्दी पकड़ता है और उसका विकास भी बेहतर होता है। इसमें रोपण की प्रक्रिया बेहद क्रमबद्ध है। सबसे पहल ट्रे को कन्वेयर पर रखते हैं। इसके पश्चात ट्रे में कोकांपीट भरा जाता है। इसके बाद ट्रे डिबलर पर जाती है। जहां उसमें बीज डालने के लिए नियत स्थान पर निश्चित गहराई का छेद होता है। तदुपरांत सीड या बीज डाला जाता है। अगली प्रक्रिया के अन्तर्गत इस ट्रे का ठीक से निरीक्षण होता है और फिर ट्रे का कवरिंग याने ऊपर से कोकोपिट डालकर समतल कर दिया जाता है। इसके पश्चात इस पर पानी का छिड़काव होता है और फिर ट्रे को निकालकर जर्मिनशन रूम में ले जाया जाता है। यहां इसे 22 से 25 डिग्री तापमान पर रखा जाता है। इस प्रक्रिया में सफलता की दर 85 प्रतिशत तक है। 2 से 4 दिनों के बीच अंकुरण होने लगता है। सबसे जल्दी खीरा और गोभी में अंकुरण होता है और सबसे धीमा अंकुरण पपीता और मिर्ची में होता है। अंकुरण की गति मूलतः फसल पर ही निर्भर करती है। गुरूकृपा ग्रीन हाउस नर्सरी में वर्तमान में टमाटर, शिमला मिर्च, बैंगन, खीरा, ककड़ी लौकी, गिलकी, करेला, तरबूज, खरबूज, पपीता, पत्तागोभी, फूल गोभी और गेंदा फूल के यानी 14 तरह की पौध तैयारी हो रही है। पौध/रोपे तैयार किए जा रहे हैं।

जाहिर है, इतने बड़े स्तर पर और भारी निवेश किए जाने वाले इस उद्यम से महज आर्थिक लाभ की बात तो नहीं सोची जा सकती। इससे खेती को होने वाले लाभों को लेकर हुई चर्चा के दौरान निम्न कुछ तथ्य सामने आए ये हैं...

- मिट्टी में पहले से मौजूद रोगों से बचाव।
- पौध या रोपा पूरी तरह से विषाणु रोग रहित होता है।
- इस प्रक्रिया से बेमौसमी पौधे भी तैयार करना संभव है।
- कम क्षेत्र जगह में अधिक उत्पादन संभव। एक वर्ष में 5-6 बार पौध तैयार की जा सकती है।
- पौध/रोपों को ट्रे सहित दूर स्थानों तक ले जाना संभव है।
- ऐसी सब्जियां जिनकी परंपरागत विधि से पौध तैयार करना संभव नहीं है, जैसे बेल वाली सब्जियां, के भी पौध तैयार किए जा सकते हैं।
- पौधों की बढ़ोत्तरी कमोवेश एक जैसी होती है।
- नर्सरी का व्यवसाय करना पहले से आसान।
- पौध तैयार होने की अवधि निश्चित होती है। यह सामान्यतया 25 से 30 दिन तक की होती है। यह सामान्य तथा संकर दोनों ही तरह के बीजों के लिए उपयुक्त है।

पाटीदार बंधुओं का कहना है कि अगली पीढ़ी के साथ आने की वजह से हमारे प्रबंधन में सुधार आया। अब इनका कार्य (मार्केटिंग) काफी हद तक डिजिटल हो गया है। तमाम वाट्सअप ग्रुप भी गठित किए हैं। ऑनलाइन साफ्टवेयर बिक्री और वर्तमान स्थिति को नवीनतम बनाए रखते हैं और नर्सरी को लेकर फीडबैक भी लगातार प्राप्त होता रहता है। अब दूरस्थ किसानों से भी सीधी बात कर पाना संभव हो गया है। रोजमर्रा के कार्यों के लिए भी साफ्टवेयर विकसित किए गए हैं। इसके अलावा संस्थान ने दो कृषि विशेषज्ञ जो कि कृषि विज्ञान स्नातक हैं, की भी नियुक्ति की है। किसान को यदि कोई समस्या होती है, तो उसको नि:शुल्क परामर्श भी देते हैं।

उनका कहना था कि सबसे ज्यादा पौध मिर्च और टमाटर के बिकते हैं। अब यहां पूरी तरह से पाली हाउस नर्सरी से ही सारा कामकाज होता है। सालभर में कुल 4 करोड़ रुपए से ज्यादा पौध/रोपों का विक्रय यहां से होता है। पौध की कीमत 1.70 पैसे प्रति पौध से लेकर 1.90 पैसे प्रति पौध तक की होती है। नर्सरी से पूरे मध्यप्रदेश के अलावा राजस्थान में चित्तौड़ व भीलवाड़ा,गुजरात में सूरत, राजकोट, मेहसाणा और अहमदाबाद, महाराष्ट्र में नाशिक, नंदूरबार, शाहदा तक पौध जाती है। सामान्यतया नर्सरी से निकलकर 15-16 घंटे की दूरी यानी करीब 600 किलोमीटर तक बिना किसी समस्या के पौध पहुंच जाता है। इससे ज्यादा समय लगने पर गाड़ी को रोककर पानी डालना अनिवार्य है। वैसे अभी तक सबसे लंबी दूर तक पपीते की रोप यहां से बिहार करीब 1,200 किलोमीटर दूरी तक भेजी है।

नर्सरी में ग्रॉफ्टिंग की व्यवस्था भी है। यह मध्यप्रदेश की पहली नर्सरी है जहां ग्रॉफ्टिंग के लिए मशीन की सुविधा भी उपलब्ध है। यहां मिर्ची, शिमला मिर्च, टमाटर और बैंगन के पौधों पर ग्रॉफ्टिंग की जाती है। इससे पौधा अधिक स्वस्थ व मजबूत हो जाता है। रूट स्टाक, रायपुर वी एम आर से बीज के रूप में आता है। उसका पौधा बनाते हैं। दो जीवित पौधों को जड़ के थोड़ी ऊपर शायन (कट लगाना) करते हैं यानी थोड़ा काटते हैं। फिर उसमें क्लिप लगाकर उसे हीलिंग चेम्बर में ले जाते हैं। यहां मूलतः आपरेशन थियेटर जैसा ही काम होता है। बैंगन के तने पर टमाटर की ग्रॉफ्टिंग करने से तना (पौधा) बेहद मजबूत हो जाता है और उसे जमीन की बीमारियां भी नहीं लगती। उनके अनुसार सब्जियों की ग्रॉफ्टिंग मूलतः मौसमी (सीजनल) कार्य है। जून-जुलाई में टमाटर पर ग्रॉफ्टिंग और अप्रेल मई में बैंगन पर बैंगन की ग्रॉफ्टिंग होती है। इसके अन्तर्गत देशी पर हाई ब्रीड की ग्रॉफ्टिंग संभव हो पाती है।

इस संस्थान में करीब 12 लोग काम करते हैं। इसके अलावा नर्सरी के कार्य में 20 एवं खेती के कार्य में 12 व्यक्ति स्थायी तौर पर कार्य करते हैं। नर्सरी में रोजंदारी के हिसाब से करीब 200 लोग अक्सर कार्य पर रहते हैं। पाटीदार परिवार 100 एकड़ जमीन लीज पर लेकर सब्जी की बड़े पैमाने पर खेती भी करता है। इसमें भी करीब 75 लोग लगातार कार्य पर रहते हैं। यानी यह संस्थान करीब 300 लोगों को लगातार रोजगार प्रदान करता है। इसे एक बड़ी उपलब्धि माना जा सकता है। इनके यहां बड़ी संख्या में पशुधन भी है। परंतु उनका मानना है कि मध्यप्रदेश में पशुधन का सबसे ज्यादा नुकसान हुआ है। यह बात भी उभरकर आई कि खेती से जितना आर्थिक लाभ मिलना चाहिए उतना मिल नहीं पाता है। सिर्फ खेती पर आर्थिक निर्भरता बेहद जोखिमभरा कार्य है। यहां इस नर्सरी में पूरी तरह से कंपनियों द्वारा विकसित हाई ब्रीड बीजों का ही इस्तेमाल हो रहा है। इनकी गुणवत्ता बनाए रखने के लिए इन्हें हमेशा वातानुकूलित कमरे में ही रखना होता है। अभी प्रयोग के स्तर पर पारंपरिक बीजों पर भी प्रयोग करना शुरू किया है। पंरतु किसी निर्णय पर अभी तक नहीं पहुंचे हैं। परिणाम पर पहुंचने में कुछ और समय लगेगा। फिर भी वे प्रयासरत हैं कि नर्सरी का एक हिस्सा देशी परंपरागत बीजों को लेकर हो।

श्री पाटीदार का कहना था कि सबसे बड़ी समस्या यह है कि कृषि के कुशल विशेषज्ञ यहां पर रहकर काम नहीं करना चाहते। उन्हें लगता है कि यहां उनकी अपेक्षा के अनुरूप जीवनशैली के संसाधन उपलब्ध नहीं हैं। अब सोचने वाली बात तो यही है कि खेती तो खेत में ही और गांवों में ही होगी। यह तो संभव नहीं है कि खेती का स्थान बदल दिया जाए। नर्सरी का सालाना कारोबार करीब 12 करोड़ रुपए का है। परंतु इसी के साथ इस कार्य में काफी मात्रा में धन लगातार लगता रहता है। उनका कहना है कि हर तीन साल में पॉली हाउस की बड़े पैमाने पर मरम्मत करना, पड़ती है और यह एक खर्चीला काम है। 50 किलोवाट का सोलर बिजली संयंत्र लगा लेने के बावजूद बिजली का खर्च 15000 रुपए महीने का आता है। इसकी वजह यह है कि पॉली हाउस में लगातार बिजली का प्रयोग क्रमशः एक्जास्ट फैन, स्प्रिंक्लर व अन्य मशीनों के लिए होता रहता है। बिजली विभाग इस कृषि गतिविधि को पूरी तरह से कमर्शियल, (व्यावसायिक) श्रेणी में रखता है। जबकि महाराष्ट्र में यह सेमी कमर्शियल (सह व्यावसायिक) में आता है।

भविष्य की योजनाओं के बारे में उनका कहना है कि वे आने वाले समय में पूरी नर्सरी को 'टेबल टाप' अर्थात जमीन से उठाकर थोड़ी ऊंचाई पर स्थानांतिरत करने जा रहे हैं। इससे पौध की बढ़त अच्छी और जल्दी होती है। वे अपने सब्जी उत्पादन को रेडी टू ईट के हिसाब से तैयार कर निर्यात की योजना बना रहे हैं। इसके लिए उन्हें रासायानिक खेती पर से निर्भरता को बड़ी मात्रा में घटाना होगा। अभी उन्होंने खरगोन में एक फार्मर प्रोड्यूस कंपनी, टेरा ग्लोब के नाम से आरंभ की है। अभी उनका जोर ऐसी खेती/नर्सरी पर है जिसमें न्यूनतम रेसिड्सू कीटनाशक का प्रयोग हो, वैसे सबसे अधिक कीटनाशक मिर्ची और टमाटर में इस्तेमाल होता है। परंतु अब रासायनिक कीटानाशक के स्थान पर जैविक कीटनाशक का प्रयोग तो इन्होंने शुरू कर दिया है। अब अगली कड़ी में वे रासायनिक खाद पर से भी निर्भरता घटाना चाहते हैं। सभी का मानना है कि यदि जमीन की उर्वरता बची रहेगी, तो ही तो हम बचे रहेंगे।

इसी क्रम में जिस दूसरे संस्थान का हमने भ्रमण किया वह अंजड से करीब 70 किलोमीटर दूर धार जिले के सुंद्रेल गांव में स्थित है शिव नर्सरी। सुंद्रेल गांव इसलिए बेहद महत्वपूर्ण है, खासकर कृषि से जुड़ी गतिविधियों के लिए, क्योंकि इस छोटे गांव में बकरी फार्म या नर्सरी मछली, नर्सरी फार्म और पारंपरिक कृषि पौध की नर्सरी तीनों मौजूद हैं। यहां 'शिव नर्सरी' में हमारी भेंट श्री शिवजी पाटीदार और धर्मेंद्र पाटीदार से हुई। श्री धर्मेंद्र पाटीदार कृषि में एम.एस.सी. करने के बाद इस कृषि व्यवसाय या व्यापार से सीधे जुड़े हुए हैं। आपने बताया कि पहले ये लोग इसी जमीन पर खेती करते थे। खासकर सब्जी की। टमाटर और मिर्ची इनकी मुख्य फसल थी। यहां तक इन्होंने हरी ग्रीननेट में स्वयं के लिए नर्सरी विकसित की। परतु उसमें लगने वाले कीड़ों से काफी परेशनी हो रही थी। इसके बाद चार-पांच किसानों ने साथ मिलकर सहकारिता की तरह से कार्य शुरू किया। पहले पांच साल तक बिना किसी लाभ के कार्य किया। सन 2012 में सरकारी योजनाओं का लाभ लेकर पाली हाउस निर्माण कर व्यावसायिक गतिविधियां शुरू की।

चूंकि स्वयं को तकनीकि ज्ञान था, तो इन्हें इसका अच्छा लाभ मिला। यहां ये लोग टमाटर, बैंगन, मिर्ची, गोभी, पपीता, पत्तागोभी और गेंदे की पौध तैयार करते हैं। इसके अलावा पीली, लाल व हरी शिमला मिर्ची के पौध भी तैयार करते हैं। इस नर्सरी की विशिष्टता यह है कि यहां बीज कंपनियां अपने बीजों का परीक्षण (TRIAL) भी करती हैं। शिव नर्सरी में इसकी पौध तैयार होती है और साथ ही लगे इनके खेतों में इन पौध का पौधा बनने और फल देने तक का पूरा परीक्षण भी हो जाता है। यह अपने आप में बेहद तकनीकी कार्य

तो है, लेकिन अत्यंत लाभकारी भी है। इस नर्सरी में भी सिर्फ हाइब्रीड बीज ही प्रयोग में लाए जा रहे हैं। स्थानीय बीजों पर यहां अभी प्रयोगात्मक कार्य हो रहा है। इस नर्सरी की सबसे बड़ी विशिष्टता है कि ये गन्ने का जर्मिनेशन कर उसकी पौध तैयार कर रहे हैं। इनका यह प्रयोग काफी हद तक सफल हो गया है। अभी सिर्फ यह ठंड में ही संभव हो पा रहा है। उनके इस प्रयोग से किसान के 40 से 50 दिन बच जाते हैं और इस दौरान वह एक अतिरिक्त छोटी फसल ले सकता है। इसके अलावा पौध के उगने की ग्यारंटी भी होती है। यह वास्तव में एक क्रांतिकारी प्रयोग सिद्ध हो सकता है।

अभी इनकी तैयार पौध 14 घंटे के सफर तक पहुंच रही हैं। मुख्यतया हरदा, शिवपुरी व गुजरात में इनके पौध जा रहे हैं। इनके पास 8 एकड़ में 8 पॉली हाउस हैं और ये साल में करीब 2 करोड़ से अधिक पौध की बिक्री करते है। इनका औसत मूल्य 1.20 पैसे से 3 रुपए तक होता है। विशेष तरह के पपीते का पौध 12 से 14 रुपए प्रति पौध तक बिकता है। वर्तमान में इनका सालाना कारोबार करीब 4 करोड़ रुपए तक पहुंच गया है।

ये अपना पूरा व्यवसाय नकदी में करते हैं। बिल्कुल भी उधार नहीं बेचते। इनका कहना है कि 'उधारी में पौध की खराबी बढ़ जाती है?' इसके अलावा इनकी एक महत्वपूर्ण बात यह है कि यह पूरी नर्सरी टेबल टाप पर आधारित है। यहां की विशिष्टतम गतिविधि क्रॉप कवरिंग यानी फसल को ढंकना है। इसका फायदा अधिक गर्मी के अलावा सर्दी के मौसम में अधिक पाला पड़ने की वजह से फसल नष्ट हो जाने से बचाना है। टेबलटाप की वजह से यहां के पौधों की जड़ें ज्यादा मजबूत व बड़ी होने से पौधों का विकास जल्दी और बेहतर होता है। बाकी तो दोनों नर्सरी की कार्यशैली व तकनीक करीब-करीब एक सी ही है। यहां का भ्रमण भी एक सुखद अनुभव रहा।

निष्कर्ष : *पॉली हाउस में प्राकृतिक परागण (पालिनिएशन) के बजाए कृत्रिम परागण के माध्यम से पौध के विकास को लेकर आशंका तो होती है परंतु दूसरी ओर यह तथ्य भी सामने है कि हाइब्रीड फसलों के बीज तो निर्जीव या निर्वीय ही होते हैं। परंतु कृषि की वर्तमान परिस्थिति में कार्यों के बंटवारे के जो फायदे हैं, वे यह बड़ी नर्सरी से प्राप्त किए जा सकते हैं। इस तरह की नर्सरी का फायदा छोटे किसान भी ले सकते हैं और वे श्रम की बचत के अलावा साल में कम से कम एक अतिरिक्त फसल भी ले सकते हैं। यह तय है कि इससे भूमि की उर्वरता पर अतिरिक्त बोझ तो पड़ेगा। वहीं यह भी संभव है कि भूमि को थोड़ा आराम भी मिल जाए।*

कुल मिलाकर इन आधुनिक व विशाल कृषि रोप नर्सरी के माध्यम से कृषि में हो रहे परिवर्तन को समझना भी संभव हो पाएगा। साथ ही जिस तरह से कृषि आधारित उद्योगों का परिकल्पना की जाती है, ये वास्तव में उसी के नए प्रतीक है। इसी के समानांतर मध्यप्रदेश के निमाड़ अंचल के युवा किसानों की नवाचार करने की प्रवृत्ति और हिम्मत भी भविष्य के लिए आशान्वित करती है। इतना तो समझ में आया कि ये सभी लोग रासायनिक खेती के विनाशकारी प्रभावों से पूरी तरह से परिचित हैं, लेकिन कमोवेश विकल्पहीनता का शिकार हो रहे हैं। ऐसे में भारत सरकार व राज्य सरकारों को पारंपरिक कृषि को व्यापक पैमाने पर पुनर्जीवित करने के लिए वास्तविक तौर पर प्रयास करने अनिवार्य हैं। विकल्प की अनुपस्थिति यथास्थिति बनाए रखने में मदद कर रही है। परंतु यह तो तय है कि वर्तमान प्रचलित कृषि प्रणाली में सब्जी आदि की पौध तैयार करने वाली नर्सरी एक बेहतर आर्थिक विकल्प तो सामने रख ही रही है।

GOATWALAFARM
VIILAGE - SUNDREL
Mob-78699-29786
W.W.W. GOAT.WALA.COM

गोटवाला फार्म

बकरीः भविष्य की संभावना

जलवायु परिवर्तन खासकर बढ़ते तापमान के चलते अब दुधारू पशुओं के लिए जीवन लगातार दु:खदायी होता जा रहा है। चरागाहों की घटती संख्या की वजह से पशुपालन अब जोखिमभरा हो चला है। वही बकरी की मौसम/जलवायु/पर्यावरण को लेकर अनुकूलता वास्तव में आश्चर्यचकित करती है। भविष्य में बकरी मनुष्य जीवन को बचाए रखने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकती है। इसके व्यापार को व्यावसायिक स्वरुप प्रदान करने की यह कहानी इस व्यवसाय से जुड़ी अपार संभावनाओं को बखूबी रेखांकित करती है।

'बकरे की अम्मा कब तक खैर मनाएगी?' यह एक बहुप्रचलित मुहावरा है। वैसे दुनिया तो यही मानती है कि बकरी इस पृथ्वी पर सबसे निरीह प्राणी है। परंतु वास्तविकता इसके उलट है। बकरी मनुष्य और मनुष्यता की महत्वपूर्ण रक्षक रही है। हमें याद रखना होगा कि इसमें अनुकूलन की जबरदस्त क्षमता है। मनुष्य सबसे पहले भेड़िये से जुड़ा। करीब 32 हजार वर्ष पहले। 14000 वर्ष पहले कुत्ता पालतू बना और 11000 वर्ष पहले जंगली बकरी (बिजोरे) को मनुष्य ने पालतू बनाया। इतने वर्षों में इसकी करीब 200 नस्लें विकसित हो चुकी हैं। गाय इसके 4000 वर्ष बाद पालतू बनी। विकास के क्रम में मनुष्य को दूध व मांस दोनों की आवश्यकता बढ़ती चली गई और बकरी दोनों ही स्थितियों में हमारी सहायक रही है।

बकरी/बकरा बेहद समझदार प्राणी है। इन्दौर में पुलिस विशेष सशस्त्र बल की एक बटालियन का नामकरण भी 'महेश' नामक बकरे के नाम पर महेश गार्ड लाइन रखा गया है। 'गोटवाला फार्म, ग्राम सुंद्रेल, तहसील धरमपुरी, जिला धार, मध्यप्रदेश' में स्थित है। यह फार्म मूलतः गोट एवं शीप वेलफेयर एसोसिएशन से संबंद्ध है। इसका आंचलिक कार्यालय भोपाल में और मुख्यालय करनाल, हरियाणा में है। दक्षिण भारत के निजामाबाद और पश्चिम में महाराष्ट्र के महोद (पंढरपुर) में भी बकरी फार्म हैं। इस संस्थान का गठन मूलतः सरकार से बकरी पालन के क्षेत्र में आ रही समस्याओं, उनके निदान और इसके विकास और उन्नयन को लेकर चर्चा व विमर्श करने हेतु किया गया था। यह संस्था अभी 7 राज्यों में सक्रिय है। इसके 800 सदस्य हैं। 10 से 500 बकरी पालने वाले तक इसके सदस्य हैं।

मध्यप्रदेश का एकमात्र आधुनिक व वैज्ञानिक बकरी फार्म सुंद्रेल में है और श्री दीपक पाटीदार इसे संभाल रहे हैं। वे कृषि स्नातक हैं और मूलतः सुंद्रेल के ही रहने वाले हैं और यहां इनका परिवार पीढ़ियों से कृषि कर रहा है। हमें अब तब लगता था कि बकरी पालन मूलतः असंगठित क्षेत्र की गतिविधि है और आदिवासी और छोटे किसान ही यह कार्य करते हैं। वैसे इन दोनों समुदायों के लिए बकरी 'एटीएम' है। परन्तु यहां आकर यह धारणा बदल गई। बकरी का मांस (Chevon) भी काफी पसंद किया जाता है। इसकी जबरदस्त घरेलू मांग है। भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद (ICAR) ने दीपक के बारे में लिखा है, 'एक बेरोजगार कृषि स्नातक श्री दीपक पाटीदार, गांव सुंद्रेल, जिला धार, मध्यप्रदेश ने सन् 2000 में मखदून में आईसीएआर द्वारा व्यावसायिक बकरीपालन (फार्मिंग) हेतु आयोजित 10 दिवसीय प्रशिक्षण कार्यशाला में शिरकत की। सन् 2001 में उन्होंने बकरी फार्म की शुरुआत की। स्थानीय नस्ल की 60 बकरियों से स्टाल फेड इंटेसिव सिस्टम (एक ही स्थान पर चाराग्रहण करने वाला) सघन प्रबंधन के माध्यम से बकरी फार्म की स्थापना की। शुरुआत में उनके सामने उत्पादन की अधिक लागत, बकरियों में बीमारी व उनकी मृत्यु और उत्पादों की कम कीमत जैसी तमाम समस्याएं आईं।' आगे दीपक पाटीदार बताते हैं कि शुरुआती समय निराशाजनक था। उनके सामने चार चुनौतियां थीं पहली वे प्रतिष्ठित व समृद्ध कृषक परिवार से थे, जहां बकरी पालन ठीक नहीं माना जाता और इसे आदिवासी, दलितों, अल्पसंख्यकों और छोटे किसानों का काम समझा जाता है। परंतु परिवार ने साथ दिया। दूसरा कमजोर स्थानीय प्रजाति की बकरियां होने की वजह से लाभ न होना। तीसरा स्थानीय समुदाय का फार्म के प्रति आकर्षण न होना और चौथा बकरियों का फार्म में बीमार पड़ना

और उनकी असामयिक मृत्यु। उन्हें लगा कि प्रशिक्षण में कुछ कमी रह गई है। अतः वे सन् 2001 में पुनः गए, लेकिन तब भी प्रशिक्षण अधूरा ही लगा। वहां पर बकरियों की बीमारियों को लेकर गहन प्रशिक्षण नहीं दिया जाता है। वैज्ञानिकों से चर्चा का भी कोई परिणाम नहीं निकला। अगली बार पुनः आवेदन दिया, परंतु उन्होंने आमंत्रित ही नहीं किया गया। दीपक के पास उस समय 1250 स्केयरफीट का शेड और जिसका कुल क्षेत्रफल 6000 स्के. फीट था का फार्म था।

इस बीच फार्म बंद करने की नौबत तक आ गई थी। उनके सामने दोहरी समस्या थी, इसमें भूसे का संकट भी शामिल था। उनका कहना था कि मेरा मन सोया भूसे का इस्तेमाल और स्थानीय नस्लों से निपटने का था। इनका वजन कम बढ़ता है और दूध भी कम होता है। जबकि सुधरी नस्ल का बकरा व बकरी 500 किलो तक के हो सकते हैं। मैंने स्वअध्ययन किया और पूना जाकर नारायणराव देशपांडे से इस कार्य को समझा। उन्होंने और मेरे परिवार दोनों ने साहस बंधाया। मैंने अपने चाचा और 5 मजदूरों को साथ लेकर स्वयं ही फार्म का निर्माण कर डाला। मेरी सफलता के पीछे हमारा अपना खेत, खलिहान, और घर का सहयोग सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। अब फार्म का स्वरूप पूरा बदल गया था। स्थानीय नस्ल के बजाय तीन अन्य उन्नत नस्लें, राजस्थान की सिरोह व उत्तरप्रदेश की बरबरी और जमनापारी लाकर नए सिरे से शुरुआत की। इस वक्त हमारे यहां 4 अन्य नस्लें सोजत, तोतापरी, कोटा व पंजाब की बीटल भी हैं। इस दौरान अफ्रीका का बकरा पालना भी शुरू किया। यह बकरा 10 से 12 लाख तक बिक जाता है, परंतु यह कार्य बेहद जोखिम भरा है। अतएव इसे बंद कर दिया।

उनका कहना है कि इस क्षेत्र में सरकार की मदद न के बराबर है। दूसरी समस्या यह है कि अच्छी नस्ल का बकरा कट जाता है। कुर्बानी देने हेतु इसकी मुंहमांगी कीमत मिल जाती है तथा इसके कट जाने से नस्ल सुधार का काम रुक जाता है। सरकार स्थानीय नस्ल के उन्नयन में रुचि नहीं दिखाती। अतएव अच्छी स्थानीय नस्लें धीरे-धीरे खत्म होती जा रही हैं। पहले गाय के साथ ऐसा हो चुका है। मगर सबक नहीं लिया। इंडोनेशिया हमारे यहां से 'जमनापारी' नस्ल की बकरी ले गया और वहां चमत्कार सा हो गया। अच्छी नस्ल लेकर व्यवसाय करने में ही फायदा है। फार्म मे पालने से क्रास ब्रीड़िंग का खतरा भी नहीं रहता। अतएव कम होती स्थानीय नस्लों को लेकर शीघ्र नीति बनना चाहिए।

भारत में राष्ट्रीय पशु आनुवांशिक संसाधनक ब्यूरो (National Bureau of Animal Genetic Resources) करनाल, हरियाणा ने पिछले 10 वर्षों में बकरी की एक भी नई नस्ल को मान्यता नहीं दी है। जबकि भारत में प्रत्येक 200 कि.मी. पर एक अच्छी स्थानीय नस्ल मौजूद है। 34 नस्लों वाली प्रमाणित बकरी सूची पर निगाह डालें तो उसमें मध्यप्रदेश की एक भी नस्ल (बकरी की) मौजूद नहीं है। जबकि महाराष्ट्र की 4 नस्लें उसमें हैं। दीपक का कहना था कि यह धारणा बनी हुई है कि बकरी पालना बहुत साधारण व आसान सा व्यवसाय है। लोग बाहर खुले में बकरियां पालते रहे हैं। इसमें क्रॉस बीडिंग के खतरे तो हैं साथ ही वर्तमान में चारागाह भी खत्म होते जा रहे हैं। खेतों की पगडंडियां भी खत्म हो गई हैं। राजस्थान के बकरी पालकों के सामने भी समस्या है क्योंकि अब खेत बारहों महीने भरे ही रहते हैं। मध्यप्रदेश में कई जगह तो इनके रेवड़ का प्रवेश ही प्रतिबंधित कर दिया गया है।

दीपक ने बताया सन् 2008 में फार्म का नया रूप सामने आने लगा और इसमें 250 बकरियां हो गई। मैं 15 दिन दिल्ली व 15 दिन गांव में रहने लगा। दिल्ली में मैं बकरी पालन की विशेषज्ञता देता था। परंतु बाद में वह कार्य छोड़ा। एक सरकारी योजना के तहत 20 लाख का ऋण लिया। इसी के बाद हैदराबाद के नेशनल इंस्टिट्यूट आफ एग्रीकल्चर मेनेजमेंट ने हमारे फार्म को मध्यभारत का सर्वश्रेष्ठ फार्म घोषित किया। इसी के समानांतर हमने एग्री क्लिनिक और एग्री बिजनेस को भी आधार बनाया। हमने सन् 2011 से गोटवाला फार्म के माध्यम से प्रशिक्षण का कार्य प्रारंभ किया। इसमें पारंपरिक किसान, नए उद्यमी, ग्रामीण विकास विभाग के कर्मचारी, गैर सरकारी संगठन, महिला स्व सहायता समूह, छोटे व्यवसायी और जीवनशैली में परिवर्तन चाहने वाले लोग शामिल होते हैं। एक दिवसीय प्रशिक्षण का शुल्क 4,500 रुपए प्रति व्यक्ति है। तीन दिवसीय आवासीय प्रशिक्षण करीब 15000 रुपए का बैठता है। अभी तक 6 देशों इजराइल, नाइजीरिया, आस्ट्रेलिया, अमेरिका, मस्कट और कतर से प्रतिभागी आ चुके हैं। कारपोरेट से हम 22000 प्रति व्यक्ति लेते हैं, इसमें इंदौर से आना-जाना भी शामिल है। सूचना तकनीक के लोग बड़े पैमाने पर प्रशिक्षण लेने आ रहे हैं।

उनका कहना है कि बकरी बेहद समझदार प्राणी है। यह घर की कुंडी तक खोल सकती है। हमने स्वयं देखा कि गोटवाला फार्म में बकरी नल खोलकर पानी पी लेती है। बकरी 100 प्रतिशत घरेलू जीव है और कौमी एकता का प्रतीक भी है। कबीर के दोहों में भी बकरी का जिक्र आता है।

व्यावसायिक बकरी पालन में आहार प्रबंधन, उससे जुड़ी बीमारियों का उपचार, टीकाकरण, शेड का निर्माण जैसे तमाम प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष खर्चे शामिल हैं। इससे खर्च व लागत बढ़ती है और जानवर महंगा हो जाता है। सामान्य मंडियों से लाई व खरीदी गई बकरियों का व्यवस्थित टीकाकरण नहीं हो पाता है। दीपक यदि राजस्थान से बकरी खरीदते हैं तो खरीद कर पहले वहीं के बाड़े में रखते हैं तथा सुंद्रेल से ले जाया गया चारा 10-15 प्रतिशत खिलाते है। धीरे-धीरे उन्हें स्थानीय भोजन पर लाया जाता है। यहां लाने के बाद भी करीब 100 दिन कठोर निगरानी में रखते हैं। दीपक ने कि बताया कृषि की परिस्थितियां दिनोंदिन अधिक जटिल व खराब होती जा रहीं हैं। अतएव सहायक गतिविधियों पर जोर देना आवश्यक है। डेरी आदि के उत्पादों की कीमतें सरकार भी तय करती है, लेकिन बकरी के साथ ऐसा नहीं है। वे बकरियों को सोयाबीन, चना और गेहूं के भूसे के मिश्रण से बना आहार देते हैं। वे कहते हैं 2 रुपए किलो का भूसा 200 रुपए किलो मटन में बदल जाता है। बकरी से संबंधित आंकड़ों की बात करें तो (पशुपालन सांख्यिकी 2019, बेसिक एनिमल हस्बेंडरी स्टेटिक्स-2019 के अनुसार) भारत में प्रति व्यक्ति दूध की उपलब्धता (उपयोग नहीं) 394 ग्राम है। उत्तरप्रदेश, राजस्थान, गुजरात, मध्यप्रदेश व आंध्रप्रदेश मिलकर देश के 53 प्रतिशत दूध का उत्पादन करते हैं। इसमें भैसों का योगदान 49 प्रतिशत है और बकरियों का मात्र 3 प्रतिशत। यदि मांस में भागीदारी की बात करें तो पोल्ट्री का योगदान करीब 50 प्रतिशत और बकरियों का 13.53 प्रतिशत है। विश्व में कुल 103 करोड़ बकरियां हैं। एशिया में 44 करोड़ और भारत में 13.50 करोड़ बकरियां हैं। इनके पालने में करीब 3.3 करोड़ परिवार जुटे हैं। भारत में कुल जानवरों में बकरी 26.40 प्रतिशत और भेड़ 12.71 प्रतिशत हैं। इनमें से 4.5 करोड़ विशिष्ट (उत्कृष्ट) देसी नस्लें हैं और 8.20

करोड़ अवर्गीकृत। भारत में पशु चिकित्सालयों और पशु चिकित्सा अध्ययन संस्थानों की गिनती भी बहुत कम है। कृषि महाविद्यालयों में इसे पढ़ाया तो जाता है, लेकिन विशेषज्ञता प्राप्त नहीं हो पाती है।

इस फार्म से अधिकांश बिक्री बकरी पालन के लिए ही होती है। 500 बकरियों की क्षमता वाले इस फार्म में अधिकांशतः 400 बकरियां ही रहतीं हैं। मूलस्थान से एकसाथ आने वाली बकरियां यहां भी एकसाथ ही रहना चाहतीं हैं। मांस के लिए बिक्री फार्म के हिसाब से फायदेमंद नहीं होती है। यहां से मूलतः बीजू बकरे की बिक्री ही होती है। इससे भविष्य की नस्ल सुधरती है। फार्म का बाकी हिस्सा जैविक खेती को समर्पित है। यहीं पर पशु आहार भी तैयार किया जाता है। इसके लिए यहां एक अत्याधुनिक इकाई भी है। शुरुआत में निमाड़ी नस्ल की 30 गायें भी थीं। अब कम कर दी गई हैं। फार्म का अपना सोलर बिजली प्लांट भी है। यहां का गोबर गैस प्लांट भी बकरियों की मेंगनी से ही चलता है। इससे जल्दी गैस तैयार हो जाती है और निकलने वाली खाद खेत के लिए सर्वश्रेष्ठ होती है। दीपक की पत्नी दीप्ती पूर्णकालिक कार्य संभालती हैं और फार्म घुमाने व प्रशिक्षण का कार्य करती हैं। गौरतलब है कि फार्म घुमाने व समझाने का शुल्क 100 रुपए प्रति व्यक्ति है और सप्ताह में एक दिन निःशुल्क है। उनके संभालने के बाद बकरी के बच्चों के मरने की संख्या में असाधारण कमी आई है। गौरतलब है जो फार्म बनाते हैं, वे मादा बकरी को ही ज्यादा अपनाते हैं। बकरी में अनुकूलता गजब की है। गर्म जलवायु के लिए यह सर्वाधिक उपयुक्त है। वैसे भी सारी दुनिया ग्लोबल वार्मिंग से परेशान है। शायद बकरी इससे परेशान नहीं है। साधारणतया पशुपालन वहीं अच्छा हो पाता है जहां खेती अच्छी हो। परंतु बकरी के साथ ऐसा नहीं है। जहां खेती अच्छी न भी होती हो वहां भी बकरी पालन संभव है। वैसे अब पारंपरिक बकरी पालकों का मन बकरी पालन से उचट रहा है। बिक्री को लेकर दीपक का कहना है पहले खरीदने के अधिकांश आर्डर 200 कि.मी. से ज्यादा दूर से होते थे। परंतु अब इंदौर आदि से व स्थानीय आर्डर भी आ रहे हैं। अधिकांश कार्य इंटरनेट के माध्यम से ही होता है। फार्म में बराबरी जैसी आकर्षक नस्लें भी हैं।

बकरी का दूध बहुत पौष्टिक व सुपाच्य है। जिन्हें अन्य दूध से एलर्जी है वे भी इसे पी सकते हैं। गौरतलब है पुरातन ग्रीक समाज में किसी अन्य जानवर का दूध पीना बर्बरता माना जाता था। पुरातन काल से लेकर मध्यकाल तक माँ का दूध न आने पर मानव बच्चों को सीधे बकरी का दूध पिलाया जाता था। ये Wet Nurse भी कहलाती थीं। तबके तमाम अस्पतालों में इनके लिए अलग से स्टाल भी होते थे। ये मानव वेट नर्सों से सस्ती पड़ती थीं। गौरतलब है बकरी का दूध माँ के दूध के सबसे नजदीक है। इसके पचने में आसानी होती है। इसमें मानव व गाय दोनों के दूध से भी कम 'फेट' होता है व इसमें इन दोनों से ज्यादा विटामिन, प्रोटीन व कैल्शियम होता है तथा फास्फोरस और आयरन की मात्रा सर्वाधिक होती है। यह टी.बी. को दूर करने में सहायक होता है तथा पीलिया में भी लाभदायक है।

निष्कर्ष: बकरी -50 से +50 के तापमान में जिंदा रह सकती है। यह सबसे ज्यादा बारिश वाले स्थान से लेकर रेगिस्तान में भी मौजूद है। जैसलमेर में तो यह गर्मी में 30 से 45 दिन तक पानी तक नहीं पीती। इसने महात्मा गांधी को पुनर्जीवन दिया था। बदलती वैश्विक जलवायु के चलते यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण पशु साबित हो सकती है। गोटवाला फार्म हमारे सामने इससे संबंधित नई विशेषज्ञता सामने लाता है। चारागाहों के कम होने की स्थिति में हमें विकल्प भी सुझाता है। गौरतलब है 3.30 करोड़ परिवार यानी करीब 15 करोड़ लोग सीधे इस पशु से जुड़े हैं। यह न्यूनतम संसाधनों में अधिकतम लौटाती है। इसमें मनुष्य को बचाए रखने की अनंत संभावनाएं मौजूद हैं। बकरी के मरने के बाद उसकी पानी की मशक बन जाती है, यानी वह अपने न रहने के बाद भी हमारे लिए उपयोगी है। यह मरकर भी हमारी प्यास बुझाती है।

मेरा जीवन ही मेरा संदेश है।
ईश्वर अल्लाह तेरो नाम

बा-बापू निसर्गोपचार केन्द्र

गांधी आश्रम

प्रयोग का गांधी विचार

संस्थाओं को लेकर महात्मा गांधी का मत है, 'मैं इस दृढ़ निश्चय पर पहुंचा हूं कि कोई भी सुपात्र संस्था जनता से मिलने वाली मदद के अभाव में नहीं मरती। मरने वाली संस्थाओं के मरने का कारण या तो यह रहा है कि उनमे ऐसी कोई उपयोगिता शेष नहीं रह गई थी जिससे आकर्षित होकर जनता उनकी मदद करती अथवा उनके संचालकों ने अपनी श्रद्धा या दूसरे शब्दों में कहें तो अपनी जीवन-क्षमता खो दी थी।' ***यंग इंडिया, 15-10-1925***

उपरोक्त कथन के नजरिये से यदि गांधी आश्रम छतरपुर को देखें तो एकाएक गांधी के पहले आश्रम फीनिक्स का स्मरण हो आता है। छतरपुर यह आश्रम भी अपनी राख से पुन: जीवंत हुआ है और एक ऐसा उदाहरण है कि जिसमें कि एक कमोवेश ध्वस्त हो चुकी संस्था पुन: चरम पर पहुंचने की स्थिति की ओर बढ़ रही है। यह उन संस्थाओं के लिए बेहद महत्वपूर्ण कहानी है, जो संकट के दौर से गुजर रही हैं।

महात्मा गांधी ने सन 1904 ई. में फिनिक्स आश्रम प्रारंभ किया। सन 1910 में टालस्टाय फार्म की स्थापना की। भारत लौटने के बाद सन् 1915 में साबरमती आश्रम बसाया और अंत में सन् 1936 में सेवाग्राम आश्रम को मूर्तरूप दिया। यानी गांधी ने अपने जीवन के कुल 78 वर्षों से करीब 40 वर्षों तक आश्रम आधारित जीवन जिया। प्रत्येक आश्रम की स्थापना के पीछे उनकी अलग सोच थी और उसी के अनुरूप उन आश्रमों का वास्तु व कार्यक्षेत्र का निर्धारण भी हुआ था। 30 जनवरी 1948 को बापू की हत्या के बाद एकाएक यह महसूस हुआ कि उनकी स्मृति और कृतित्व को शाश्वत बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि 'आश्रम' की परंपरा को कायम रखा जाए और नई चुनौतियों से निपटने के लिए उन्हें एकतरह की प्रयोगशालाओं के रूप में विकसित किया जाए। छतरपुर स्थित गांधी आश्रम भी इसी तरह का एक प्रयोगधर्मी आश्रम है। सन् 1948 में इसकी स्थापना गांधी के रचनात्मक कार्यों को मूर्त रूप देने के लिए हुई थी।

जिस भूमि पर और भवन से यह आश्रम आज संचालित हो रहा है, औपनिवेशिक काल में यह रियासत के अंग्रेज दीवान का निवास था। आजादी के तुरंत बाद से ही यह प्रयास शुरू हो गए थे कि यह भवन व भूखंड प्रशासन को हस्तांतरित कर दिया जाए और इसे जिले के प्रशासनिक प्रमुख का निवास बना दिया जाए। परंतु स्थानीय गांधीजनों जिनका नेतृत्व संविधान सभा के सदस्य स्व. रामसहाय तिवारी कर रहे थे और आजादी के पहले उन्हें जेल से छुड़वाने के लिए ही सन् 1931 की मकर संक्राति को बुंदेलखंड का स्थानीय 'जलियावाला कांड' हुआ था, ने सन् 1948 में केंद्रीय गांधी स्मारक निधि को यह संपत्ति, राष्ट्रपति के नाम से (इस भूखंड व भवन को) हस्तांतरित करवा दी। आज भी यह जमीन भारत के राष्ट्रपति के नाम पर है और मध्यप्रदेश गांधी स्मारक निधि इसका विधिवत् संचालन करती है। आश्रम में रुपांतरित होने से पहले यह स्थान 'दिलखुश बाग' कहलाता था। राष्ट्रपति के नाम होने के बावजूद आज भी सरकारी और राजनीतिक तंत्र की वक्र दृष्टि इस पर बनी ही रहती है। परंतु आश्रम की संस्कृति व मनोवृत्ति ने इस स्थान को न केवल जीवंत बनाए रखा है, बल्कि इसकी गतिविधियों को नए आयाम भी दिए हैं।

गौरतलब है आश्रम के पास अभी मुख्य आश्रम के अन्तर्गत करीब 32 एकड़ भूमि है और समीपवर्ती गांव (अब स्थानीय कमला कालोनी के पास) मोराहा में करीब 30 एकड़ जमीन है। छतरपुर संकुल में 10 एकड़ क्षेत्रफल में आश्रम का मुख्य भवन, गोशाला, हरिजन बालिका आश्रम (हरिजन सेवक संघ द्वारा संचालित) व सत्यशोधन आश्रम (विद्यालय), प्राकृतिक चिकित्सा औषधालय आदि संचालित होते हैं। गांधी आश्रम का

पिछले करीब 73 वर्षों का इतिहास बेहद रोचक व रोमांचक रहा है। यह इतिहास आश्रम के उत्थान, पतन और पुनः उत्थान की जीजिविषा का ज्वलंत उदाहरण भी है। यहां सन् 1948 से 1990 तक बेहद ऊर्जामय रचनात्मकता के साथ सामाजिक व कृषि संबंधी गतिविधियां संचालित होती रहीं। सन् 1990 से 2006 तक स्थितियां बहुत उज्जवल नहीं रहीं। परंतु सन् 2006 से परिस्थितियों में एक बार पुनः परिवर्तन आया और न केवल यहां की पवित्रता पुर्नस्थापित हुई बल्कि इस आश्रम का छतरपुर और बुंदेलखंड के अनेक गांवों से जीवंत संपर्क पुनः प्रारंभ हुआ और आज यह आश्रम छतरपुर के सबसे प्रतिष्ठित संस्थानों में से है।

गांधी आश्रम की उपयोगिता और इसकी गतिविधियों की सबसे बड़ी उपलब्धि यह रही है कि यहां की गतिविधियों में स्थानीय शहरियों और नजदीकी ग्रामीणों की सक्रिय भागीदारी रही है। आश्रम की इस अनूठी गतिविधि पर गौर करिए। छतरपुर में आजादी के बाद लंबे समय तक शौचालयों का अभाव था। वैसे बुंदेलखंड में तो कुछ वर्षों पहले तक खुले में शौच जाने की परंपरा बड़े पैमाने पर प्रचलित थी। परंतु गांधी आश्रम के तत्कालीन कार्यकर्ताओं ने आश्रम को शहर के नागरिकों के शौच के लिए खुला रखा था। लोग-बाग यहां आते निर्दिष्ट स्थानों पर शौच त्याग करते। इसके बाद उस मानव मल में गौशाला से गायों के गोबर को लाकर डाला जाता था और उसकी गैस से आश्रम की खाना बनाने व ऊर्जा संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति होती थी। इस तरह की गतिविधि को संचालित करने वाले किसी अन्य आश्रम का नाम एकाएक हमारे जेहन में नहीं आता। गांधी जिस स्तर पर साफ-सफाई के हामी थे, उसके क्रियान्वयन का इससे सुंदर उदाहरण अन्यत्र मिल पाना कठिन है। यह गांधी विचार में आस्था रखने वालों के लिए ही संभव है कि दुनिया में कदाचित सबसे घृणित समझे जाने वाली क्रिया को समाज की बेहतरी और पर्यावरण, आबोहवा को साफ रखने और वातावरण को बदबू से बचाने के लिए वे अपना सकते हैं। क्या कहीं और सुना है कि कोई समाज को अपने यहां मल त्याग करने के लिए स्थानीय समाज को आमंत्रित करे?

विस्तार में जाने से पहले गांधी आश्रम की एक और महत्वपूर्ण उपलब्धि, जो कि भविष्य में अहिंसक समाज की स्थापना में मील का पत्थर साबित होगी, पर संक्षेप में चर्चा कर लेते हैं। फरवरी 1972 में जयप्रकाश नारायण के समक्ष चंबल घाटी के बागियों ने जौरा में आत्मसमर्पण किया था। परंतु तब बुंदेलखंड के बागियों ने आत्मसमर्पण नहीं किया था। इसी संदर्भ में जयप्रकाश नारायण को लगा कि चंबल घाटी से सटे बुंदेलखंड में भी आत्मसमर्पण होना चाहिए। इस हेतु जयप्रकाश जी मौली डाकबंगले में डकैतों से मिले थे। परंतु

उसके पहले घटनाक्रम यह है कि यहां के डकैतों जिनमें मूरतसिंह, मोनीराम सहाय, पूजा बब्बा, छुट्टेराम व रामनारायण की गैंग प्रमुख थीं, ने आत्मसमर्पण से इंकार कर दिया। उन्हें राजी करने की जिम्मेदारी मुख्यत: या लोकेन्द्र भाई, चतुर्भुज पाठक व देवेंद्र जैन जो गांधी आश्रम छतरपुर से जुड़े थे, और श्री दुर्गा प्रसाद आर्य (जो कि वर्तमान में गांधी आश्रम समिति छतरपुर के अध्यक्ष हैं) को सौंपी गई थी। बागियों का कहना था कि वे पहले एकबार आत्मसमर्पण कर चुके हैं। तब उनके साथ अन्याय हुआ और इस दौरान उनके मुँह में विष्ठा तक भर दी गई थी। लोकेन्द्र भाई व दुर्गाप्रसादजी आर्य के लगातार संपर्क के कारण वे जेपी से मिलने को तैयार हो गए। अप्रेल 1972 में वे मौली स्थित डाक बंगले में बागी समूह जेपी से मिला। जेपी ने उनसे आत्मसमर्पण को कहा तो उन्होंने अपनी पुरानी व्यथा दोहराई। जेपी ने आश्वासन दिया कि आप आत्मसमर्पण कर दो। आप लोगों को फांसी नहीं होगी और न ही दुर्व्यवहार होगा। बागी तब भी आशान्वित नहीं थे। तब जेपी बोले यदि आपके साथ ऐसा कुछ हुआ तो मैं अपनी जान दे दूंगा। इस पर बागी राजी हुए और उन्होंने एक माह का समय मांगा। (यह किसलिए इसका विस्तृत विवरण बेहद रोचक है) उस दौरान आश्रम समिति के अध्यक्ष स्व. चतुर्भुज पाठक थे। अंततः 31 मई 1972 को जयप्रकाश नारायण गांधी आश्रम छतरपुर में आए और बागी लोग आश्रम के पुस्तकालय में उनसे भेंट करने पहुंचे। परंतु बागियों की संख्या और विशाल जनसमूह के इकट्ठा हो जाने से पुस्तकालय में प्रारंभिक कार्यवाहियां पूरी की गई और महाराजा कॉलेज परेड ग्राउंड में बुंदेलखंड के करीब 150 बागियों का आत्मसमर्पण हुआ। गौरतलब है इस समर्पण में सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका आश्रम से जुड़े गांधीजनों व कार्यकर्ताओं की थी। आज 49 वर्षों बाद श्री दुर्गाप्रसाद आर्य से इस प्रसंग को सुनना रोमांचित करता है।

आश्रम में समाज में भाइचारे बढ़ाने, जैविक खेती व गोपालन जैसी तमाम गतिविधियां लगातार संचालित होती रहीं हैं। स्थानीय लोग बताते हैं कि जब आश्रम की गौशाला से गाय व अन्य पशु तीन किलोमीटर दूर खेत में चरने के लिए जाते थे, तो लोग आश्चर्य से इन पशुओं को देखते रह जाते थे। वह सब इतने सुगठित व स्वस्थ दिखते थे कि लोग देखकर ही पहचान लेते थे कि यह आश्रम के पशु हैं। परंतु सन् 1990 से परिस्थितियों ने कुछ विपरीत दिशा पकड़ ली। इसके बाद सन् 2006 में श्री संजय सिंह व दमयंती पाणी ने इस आश्रम के कायाकल्प का बीड़ा उठाया और तमाम विपरीत परिस्थितियों का जिसमें व्यक्तिगत अपमान होना तक शामिल है, का सामना करते हुए, आश्रम की प्रतिष्ठा को पुर्नस्थापित करने का भागीरथ प्रयास

प्रारंभ किया। आज की स्थिति में गांधी आश्रम में स्थानीय ही नहीं पूरे देश से लोगों का आना बिना किसी हिचक के आरंभ हो गया है। यहां अब किसी तरह की कोई रोक टोक नहीं है। आश्रम की भूमि पर हो रहे अतिक्रमण को भी समिति ने बाउंड्रीवाल बनाकर रोक दिया है। सैकड़ों फीट लंबी दीवार बनाना अपने आप में बेहद श्रमसाध्य व खर्चीला काम रहा है। परंतु अब आश्रम पूरी तरह से सुरक्षित हो गया है।

यदि आश्रम की मुख्य गतिविधियों पर नजर डालें तो पता चलता है कि यहां की मुख्य जिम्मेदारी अब दमयंती पाणी के कंधों पर है, संजय सिंह मुख्य सलाहकार हैं और अंकित मिश्र फिलहाल आश्रम के मुख्य कार्यकर्ता हैं। इसके अलावा अध्यक्ष के रूप में श्री देवीप्रसाद आर्य का दूरदर्शी व गंभीर मार्गदर्शन उपलब्ध है। इसके बोर्ड में डॉ. भारतेंदु प्रकाश, जशरथ भाई, राकेश दीवान, नरोत्तम स्वामी, नरेंद्र चौधरी और अंकित मिश्र हैं। दमयंती समिति की सचिव हैं।

गांधी आश्रम में अनेक प्रकार की गतिविधियां संचालित होती हैं। अपनी बात की शुरुआत हम जैविक खेती से करते हैं। याद रखने योग्य यह है कि यहां खेती में देशी बीजों का ही उपयोग होता है और किसी तरह की रासायनिक खाद या कीटनाशक का यहां प्रयोग नहीं होता। यदि अनाज की बात करें तो परंपरागत बुंदेली कठिया गेहूं व शर्बती लगाया जाता है। जौ की खेती होती है। इसी के समानांतर, ज्वार, बाजरा और मक्का की खेती सिर्फ पशुओं के आहार हेतु होती है। पशुओं ही नहीं पक्षियों के लिए भी। सुनने में अजीब लगता है कि पक्षियों के लिए होती खेती। परंतु दमयंती जी का कहना है कि संसार में प्रत्येक प्राणी जिनमें पक्षी शामिल हैं, को जहरमुक्त भोजन का नैसर्गिक अधिकार प्राप्त है। यहां दस तरह की दालें और चना उगाया जाता है। तीन तरह की तिलहनों से तेल भी निकाला जाता है। धान की खेती भी यहां होती है। मसालों की खेती भी होती है तथा 15 से 20 किस्म की सब्जियां भी लगाई जाती हैं। इन्हें लेकर

तमाम तरह के प्रयोग भी होते रहते हैं। साथ ही यहां फल जैसे आम, अमरूद, पपीता, केला, बेर, इमली, कबीट, सीताफल का उत्पादन व बिक्री होती है। साथ ही जैविक खेती प्रशिक्षण शिविर व बीज संवर्धन व संरक्षण का कार्य भी होता है।

आश्रम की दूसरी महत्वपूर्ण गतिविधि है, गौशाला। संचालन इसमें गायों का संरक्षण व संवर्धन होता है। इसकी शुरुआत स्थानीय प्रजाति 'केन' की तीन गायों से हुई थी। अब गोशाला में करीब 55 गाय हैं। यहां मुख्यत: केन गाय की नस्ल सुधारने का कार्य हो रहा है। केन गाय वैसे तो बहुत मजबूत है और उसका दूध भी बेहद पौष्टिक होता है, लेकिन दूध की मात्रा बहुत कम होती है। यह अधिकतम 1.5 लीटर दूध देती है। आश्रम में गाय के बच्चे को दूध की पूर्ति हो जाने के बाद जो दूध बचता है, वही निकाला जाता है। तमाम प्रयासों व प्रयोग के बाद समझ में आया कि गिर (गुजरात) नस्ल बुंदेलखंड में रच-बस सकती है। अतएव नस्ल सुधारने के लिए गिर सांड का सहारा लिया जा रहा है। यह कार्य करीब दो वर्ष पूर्व प्रारंभ हुआ है। वैसे नस्ल के सुधरने में न्यूनतम 12 से 15 वर्ष लगते हैं। अतएव इस दीर्घकालीन परियोजना को संचालित कर पाना बेहद खर्चीला, श्रमसाध्य तथा धैर्य का कार्य है।

आश्रम की एक अन्य महत्वपूर्ण गतिविधि है, प्राकृतिक चिकित्सा व चिकित्सालय। आश्रम की शुरुआत यानी सन् 1950 से ही प्राकृतिक चिकित्सा यहां की एक प्रमुख गतिविधि रही है। अभी बुंदेलखंड में प्राकृतिक चिकित्सा के क्षेत्र में कार्यरत अधिकांश यहीं से प्रशिक्षित हैं। आश्रम में प्राकृतिक चिकित्सा के साथ ही साथ सेल्फ हीलिंग पद्धति, भोजन, आयुर्वेद, होम्योपैथी, प्राणिक, चीन पद्धति फुट रिफ्राक्लाजी, मसाज चिकित्सा, जल चिकित्सा, व मिट्टी से चिकित्सा होती है। लगातार स्वास्थ्य व प्रशिक्षण शिविर भी लगाए जाते हैं। अब तक 11 शिविर हो चुके हैं। शिविर में एक बार में 30 चिकित्सक होते हैं। शिविर में भोजन पर विशेष ध्यान दिया जाता है। शिविर में 70 से 100 लोग भागीदारी करते हैं और 300 लोग प्रतिदिन उपचार करवाते हैं। यहां मानसिक रोगों खासकर नींद न आने का सफल इलाज होता है। 14 नवंबर 2021 को करीब 40 लाख रुपए की लागत से नया अस्पताल भवन लोकार्पित हुआ इसमें 25 लाख रुपए सांसद निधि और 15 लाख रुपए आश्रम समिति ने लगाए। यह अस्पताल 6500 स्क्वायर फीट में स्थित है। अभी यहां ओपीडी ही संचालित हो रही है।

आश्रम एक पुस्तकालय भी संचालित करता है। इसमें गांधी जीवन आदि पर करीब 4000 दुर्लभ पुस्तकें हैं। यहां पर शोध करने वाले छात्र आते हैं। साथ ही गांधी विचार से संबंधित तमाम पत्रिकाएं भी आती हैं। यह शहर की गोष्ठियों का मुख्य केंद्र भी है।

आश्रम समिति मुख्यतः गांधी विचार के प्रचार व प्रसार के लिए कार्य करती है। इस हेतु किताबों की बिक्री, प्रदर्शनी, रैलियां निकालना मुख्य है। युवा प्रबोधन हेतु स्कूल व कालेजों में तमाम गतिविधियां संचालित की जाती हैं। गांधी 150 के दौरान करीब 50000 बच्चों से संपर्क किया गया। सामान्य तौर पर वर्षभर में 8 से 10000 युवाओं से संपर्क तो किया ही जाता है। छत्रसाल विश्वविद्यालय के साथ भी विचार गोष्ठी आयोजित की जाती है। तमाम प्रतियोगिताएं आयोजित होती हैं। इसके अलावा सन् 2012 से लगातार सृजनात्मक कला शिविर, नाटक, चित्रकला, आदि कर रहे हैं।

आश्रम जैविक भोजन के प्रचार का कार्य भी करता रहा है। वह रिफाइंड भोजन का समर्थक नहीं है। जैविक भोजन निर्माण का प्रशिक्षण भी दिया जाता है।

आश्रम में अपने उत्पादन, गांधी-विनोबा साहित्य व वस्त्रों की बिक्री का एक केंद्र भी मौजूद है। इसके अलावा यहां विमर्श आधारित अनेक गतिविधियां संचालित होती हैं। प्रत्येक महत्वपूर्ण दिवस पर उससे संबंधित औसतन एक कार्यक्रम प्रतिमाह आयोजित होता है। इसकी लंबी फेहरिस्त है।

गांधी आश्रम छतरपुर एक जीवंत संस्थान है, जो लगातार अपनी उपयोगिता सिद्ध कर रहा है और गांधी विचार की व्यावहारिकता को स्थापित करने का प्रयास कर रहा है।

निष्कर्ष: गांधी आश्रम, छतरपुर वास्तव में एक परिपूर्ण संस्था है। यहां मानव जीवन की अधिकांश आवश्यकताओं की पूर्ति पवित्र साधनों के माध्यम से संपन्न होती हैं। आज जब सब ओर अत्यधिक यांत्रिकता का बोलबाला होता जा रहा है, उसके विपरीत यह आश्रम अभी भी मानव उर्जा के अधिकतम सकारात्मक उपयोग का सफलतापूर्वक प्रयोग कर रहा है। बुंदेलखंड की विपरीत परिस्थिति और जलवायु परिवर्तन के अत्यधिक प्रभाव से प्रभावित होने वाले इस अंचल में गांधी आश्रम एक ठंडी बयार की तरह है, और यह पूरे बुंदेलखंड ही नहीं बल्कि अन्य सभी के लिए भी आदर्श ही है।

बहुजन हितकारी समिति

महिलाओं की सार्थक पहल

अंतर्राष्ट्रीय कृषि जगत में दो कंपनियां, पहली कारगिल जो कि खाद्य पदार्थों के उत्पादन का 70 प्रतिशत का व्यापार करती है और दूसरी मॉनसेंण्टो (बायर) जो कि दुनिया के बीज भंडार पर कब्ज़ा किए हुए है, का मुकाबला सीमांत और छोटे किसान ही कर पा रहे हैं, और उसमें भी महिला किसानों की प्रधानता है। यह कहानी देश के सबसे पिछड़े और सर्वाधिक प्रतिकूल पर्यावरण वाले क्षेत्र 'बुंदेलखंड' की जुझारू (महिला) किसानों के साहस और उद्यमिता की ठोस प्रस्तुति है।

कृषि में व्याप्त वैश्विक षड़यंत्रों को समझने के यूं तो बहुत से जरिए और उदाहरण हम सबके सामने हैं, लेकिन एक बहुत आसान सा व बेहद महत्वपूर्ण प्रमाण हमारे एकदम नजदीक मौजूद है, परंतु कभी हमारा ध्यान उसकी ओर जाता ही नहीं। औपनिवेशिक शासक ब्रिटेन ने सन् 1905 में एक युवा कृषि वैज्ञानिक अल्बर्ट हॉवर्ड को भारतीय कृषि पर अध्ययन करने के लिए भारत भेजा। यह युवा वैज्ञानिक करीब 26 वर्ष भारत में रहे और इसमें से सन् 1924 से 1931 तक वे इंदौर (मध्यप्रदेश) में रहे और इस दौरान इंस्टिट्यूट आफ प्लांट इंडस्ट्री (वर्तमान में कृषि महाविद्यालय, इंदौर) के निदेशक रहे और मध्यभारत तथा राजपुताना राज्यों के कृषि सलाहकार भी रहे। इसी दौरान उन्होंने कम्पोस्ट खाद को नए सिरे से अन्वेषित किया जो 'इंदौर मेथड आफ कम्पोस्ट मेकिंग' कहलाया।

महात्मा गांधी का सन् 1934 में इंदौर आने का सर्वाधिक महत्वपूर्ण उद्देश्य इस पद्धति को समझना ही था। सर अल्बर्ट हावर्ड ने एक अनूठी पुस्तक 'एन एग्रीकल्चर टेस्टामेंट' (हमारी खेती का वसीयतनामा) लिखी थी। यह पुस्तक सन् 1940 में लंदन से प्रकाशित हुई। सन् 1956 तक इस पुस्तक के 7 संस्करण जारी हो चुके थे। इसके बाद यह पुस्तक की उपलब्धता नहीं हो पाई। गौरतलब है सन् 1960 के दशक में नार्मन बोरलाग ने हरित क्रांति का प्रतिपादन किया और सन् 1970 में उन्हें कृषि अनुसंधान के लिए नोबल पुरस्कार भी मिला। सन् 2006 में भारत सरकार ने उन्हें अपना दूसरा सर्वोच्च सम्मान पद्म विभूषण प्रदान किया था।

सन् 1960 और 70 के दौरान उपरोक्त पुस्तक न केवल बाजार में अनुपलब्ध हुई बल्कि इस पर चर्चा भी बंद हो गई। वजह साफ है। सर अल्बर्ट हावर्ड ने 35 वर्षों के निवास दौरान भारत व एशियाई देशों में किए गए अध्ययन व शोध से यह सिद्ध कर इस पुस्तक में संग्रहित कर दिया है कि रासायनिक खेती से कितना बड़ा खतरा हमारे सामने आने वाला है। शायद इसे वजह से अगले करीब 40 वर्षों तक इस पुस्तक का प्रकाशन नहीं हो पाया और बेहद जद्दोजहद के पश्चात सन् 1996 में गोवा की 'द अदर इंडिया प्रेस' ने इसे पुनः प्रकाशित किया। इसके बाद इसके अंग्रेजी के संस्करण व हिन्दी, मराठी, कन्नड़, तेलगू, तमिल व मलयाली अनुवाद छप चुके हैं। इस महत्वपूर्ण पुस्तक में वे एक बेहद रोचक तथ्य सामने लाते हैं, 'रोम की खेती अत्यंत समृद्ध थी, परंतु सदैव युद्धरत रोम सैन्य शासकों ने खेती की उपेक्षा की। किसानों ने छोटे-छोटे खेत बेच डाले, उन पर बड़े नगरों का निर्माण हुआ। बड़े-बड़े कुलक जमींदार पैदा हुए, गुलामी प्रथा का आरंभ हुआ, इन गुलामों से खेती कराई गई, गुलाम कम पड़ने पर बाहर से मंगवाए गए, और खेती मंहगी हुई। जैसी चाहिए थी वैसी उपज खेती से मिलना बंद हो गई। धीरे-धीरे रोमन साम्राज्य धूल में मिल गया। उनकी गलती यह थी कि वे उपजाऊ मिट्टी का बचाव नहीं कर सके।' हमारी आधुनिक सभ्यता में युद्ध का स्थान उद्योगों ने ले लिया है और ऊपजाई मिट्टी वाली जमीनों पर शहर बस रहे हैं, कारखाने लग रहे हैं सड़कें बन रहीं हैं और अब मिट्टी की उर्वरता को नष्ट करने के लिए हथियारों का स्थान जहरीली रासायनिक खादों, रासायनिक कीटनाशकों और अनैतिक तरीकों से विकसित कथित 'उन्नत' बीजों ने ले लिया है। एकल खेती ने भूमि की उर्वरता को चौपट सा कर दिया है।

जाहिर सी बात है कि दुनिया की सबसे शक्तिशाली सेनाओं (उद्योगों) से सीधे टकराव तो संभव नहीं दिखाई पड़ता और इसकी वजह है उनकी शासन तंत्र तक पहुंच और उस पर उनका आधिपत्य। ऐसे में

आवश्यक है कि हम छापामार या गुरिल्ला युद्ध जैसी नीतियों को अपनाएं और स्वयं को अपनी स्थानीयता जिसमें स्थानीय भूगोल, जलवायु, रहन-सहन, रीति रिवाज, फसलें व बीज शामिल हैं, के सहारे मानव सभ्यता को बचाने का संघर्ष जारी रखें। उधर जेफरी एम.स्मिथ ने अपनी अनूठी पुस्तक 'जेनेटिक राउलेट्स' के माध्यम से सारी दुनिया को समझा दिया है कि जीन संवर्धित फसलें (जी.एम. क्राप्स) के द्वारा जो फसलों के अंतरंग से खिलवाड़ किया जा रहा है, उसके कितने प्रलयकारी प्रभाव हम पर और हमारे पर्यावरण पर पड़ सकते हैं। सर अल्बर्ट हावर्ड ने जब 'एन एग्रीकल्चर टेस्टामेंट' (सन् 1940 में) लिखा था तब स्थितियां इतनी प्रतिकूल नहीं थीं। परंतु जेफरी एम.स्थिम के काल तक परिस्थितियां बदल चुकी थीं। उनकी पुस्तक न केवल फसलों और मानव जीवन पर नए बीजों व रसायनों से पड़ने वाले विपरीत प्रभावों की चर्चा करती है बल्कि इन बीजों के पीछे छिपी आर्थिक राजनीति एवं बीज उत्पादकों और शासकों की मिलीभगत को भी उजागर करती है। पुस्तक की प्रस्तावना में वह समझाते हैं कि मोनसेंटों ने दावा किया था कि आनुवांशिकीय परिवर्तित फसलें (जेनेटिकली माडीफाइड फसलें - जी एम फसलें) मानव स्वास्थ्य के लिए सुरक्षित हैं। इस दावे को पुख्ता करने के पीछे अमेरिका के फूड एण्ड ड्रग्स एडमिनिस्ट्रेशन (FDA) का यह कथन है, 'नई तकनीक से तैयार किए गए भोज्य पदार्थ अन्य भोज्य पदार्थों से भिन्न हैं, यह स्वीकारने के लिए हमारे पास कोई जानकारी नहीं है।' एफ डी ए को इतने से ही संतोष नहीं हुआ। वह मानता है कि नए तरीके से तैयार किए गए भोज्य पदार्थों (जी.एम. फूड्स) की मानव स्वास्थ्य के लिए सुरक्षरता के बारे में जांच करने की कोई आवश्यकता नहीं है। उसका विश्वास है कि,'भोज्य पदार्थों की सुरक्षितता के बारे में विश्वास दिलाने का उत्तरदायित्व उत्पादक (बीज कंपनी) का ही है।' इसका सीधा सा अर्थ यह हुआ कि हमें बायोटेक बीज कंपनियों के दावे पर ही विश्वास करना होगा। इसका सत्यापन सरकारी कंपनियों से करवाना अनिवार्य नहीं है। वहीं दूसरी ओर कृषक या पंचायत यदि यह प्रमाणित करते हैं कि भोज्य पदार्थ जैविक है तो उसे इसका प्रमाणीकरण (सर्टिफिकेशन) अंतराष्ट्रीय नियमों के अनुरूप करवाना होता है, जो कि एक छोटे व मध्यम किसान के लिए कमोवेश असंभव ही है। गौरतलब है एफ डी ए ने अपनी इन टिप्पणियों के करीब 7 वर्षों पश्चात इन्हीं भोज्य पदार्थों के विरुद्ध एक मुकदमे के दौरान अपनी 44000 (चवालिस हजार) पृष्ठों की रिपोर्ट में परोक्ष रूप से यह स्वीकार किया कि शासकीय वैज्ञानिकों के न चाहते हुए भी भोज्य पदार्थों के नकारात्मक प्रभावों संबंधित तमाम तथ्यों को संबंधित प्रारुप से हटाया गया है।

बहरहाल इस लंबी भूमिका की आवश्यकता इसलिए आवश्यक है कि हम यह जान पाएं कि जैविक खेती और जैविक जीवनशैलियों के सामने चुनौती कौन प्रस्तुत कर रहा है, ऐसे में हमें इन छोटे लगने वाले प्रयासों का बड़ा महत्व समझ में आएगा। बात आगे बढ़ाते हैं। ध्यान से समझिए कि दुनिया की सबसे सशक्त बीज कंपनी और दुनिया की सबसे सशक्त सरकार की एक बेहद सशक्त कंपनी आपसी रजामंदी पर पहुंची और कृषि सुधार के नाम पर एक खतरनाक व जहरीला गोरखधंधा शुरु हो गया। भारत में अभी तो हम जीन संवर्धित कपास (जी एम काटन) के प्रसार से ही हतप्रभ हैं क्योंकि

इसके जारी होने के 10 वर्षों के भीतर ही इसके विपरीत प्रभावों के साथ ही साथ उत्पादन में गिरावट व मिट्टी की उर्वरता में कमी आना शुरू हो गई है। ऐसे में सहज कल्पना कीजिए कि जब भोजन से संबंधित फसलों में इनका प्रवेश नामालूम कैसी दारुण परिस्थितियां पैदा करेगा। अभी तो हाईब्रीड बीजों के मकड़जाल से ही नहीं निकल पा रहे हैं और जीएम बीज नई मुसीबत की तरह मुँह बायें खड़े हैं। वैसे ही हम पिछले करीब 7-8 दशकों से खेती में रासायनिक उर्वरकों और कीटनाशकों के भयंकर उपयोग से त्रस्त हैं हीं। इन सभी प्रयोगों में किसानों की उपस्थिति कहीं नजर नहीं आती। वे महज बलात क्रियान्वयनकर्ता के रूप में हमारे सामने आते हैं। उनके कृषि, मौसम व भूमि संबंधी आनुवांशिक व परंपरागत ज्ञान की लगातार अवहेलना हो रही है और भारतीय कृषि (या यूं कहें कि कृषि मे) में निहित आत्मनिर्भरता के तत्व को भी सुनियोजित ढंग से नष्ट करने की साजिश भी निरंतर जारी है।

महात्मा गांधी एक शताब्दी पूर्व ही इस परिस्थिति को भाप चुके थे। उन्होंने और डा. जे सी कुमारप्पा ने इसके विकल्प भी उसी समयकाल में समझा दिए थे। कुमारप्पा की पुस्तक'गांव आन्दोलन क्यों ?' जिसका तीसरा संस्करण सन् 1939 में प्रकाशित हो चुका था में महात्मा गांधी ने जो छोटी सी प्रस्तावना लिखी है, वह बेहद महत्वपूर्ण है। गौरतलब है आजादी के बाद के 70 वर्षों में इसके केवल 5 संस्करण ही प्रकाशित हो पाए हैं। बहरहाल कृषि की इस वैश्विक गुटबंदी के खिलाफ भारत के कृषक व नागरी समुदायों का एक वर्ग सचेत हुआ और उसने इस दिशा में कार्य करना शुरू किया कि भारतीय खेती का पारंपरिक स्वरूप और उत्पादन प्रक्रिया ही सर्वश्रेष्ठ है। अनुपम मिश्र कहते थे 'वर्षा से मिला जल ही सर्वश्रेष्ठ तीर्थ है।' वहीं दूसरी ओर भारत में वर्षा की अनिमितता लगातार बढ़ रही है और सिंचाई के कृत्रिम संसाधनों पर असामान्य रूप से बहुत ज्यादा खर्च किया जा रहा है।

भारत का बुंदेलखंड अंचल दो राज्यों मध्यप्रदेश व उत्तरप्रदेश में बसा हुआ है। इस अंचल को भारत व विश्व में जलवायु परिवर्तन के अधिकतम प्रभाव वाला क्षेत्र भी कहा जा सकता है। इसकी वजह है इस अंचल में मौसमीय (जलवायु) अनिमितता और अनिश्चितता (विषमता) की व्यापकता का सर्वाधिक विस्तार। यह पूरे देश के लिए चिंता का विषय इसलिए भी है क्योंकि यह भूभाग भारत के सबसे केंद्र (मध्य) में स्थित है। परंतु यहां जो समाधान ढूंढा गया है वह है केन-बेतवा नदी जोड़ (लिंक) परियोजना। गौरतलब है इस परियोजना के कारण बड़ी मात्रा में जंगल व भूमि (जिसमें उपजाऊ भूमि भी शामिल है) डूब में आएगी। इसके अन्तर्गत

बड़ा जलाशय बनेगा और नहरों के माध्यम से सिंचाई भी होगी। इस विशाल परियोजना पर बहुत सारे सवाल उठाए गए हैं। लेकिन केंद्र सरकार ने अंततः इसे मंजूरी दे दी है और मध्यप्रदेश की सरकार भी इससे पूरी तरह से सहमत है।

उपरोक्त परिस्थितियों के दौर में कुछ संस्थाओं ने पारंपरिक कृषि पर अपना भरोसा बनाए रखा है। ऐसी ही एक संस्था है 'बहुजन हितकारी शिक्षा प्रसार समिति'। यह नवधान्य के सहयोग से मध्यप्रदेश के बुंदेलखंड अंचल में गठित नवीनतम जिले निवाड़ी में स्थित है। यह संस्था पिछले 40 वर्षों से सामाजिक क्षेत्र में सक्रिय है और श्रीमती सुमन नामदेव वर्तमान में इसकी अध्यक्ष हैं।

बहुजन हितकारी शिक्षा प्रसार समिति (आगे समिति संबोधित) ने सन् 2005 से नवधान्य, देहरादून के साथ मिलकर स्थानीय स्तर पर जैविक कृषि से संबंधित गतिविधियों की शुरुआत की। समिति ने अपना आधार व लक्ष्य पूर्णतया महिला केंद्रित रखा। समिति का उद्देश्य व लक्ष्य है जैविक खेती के माध्यम से ग्रामीण महिलाओं का सशक्तिकरण। समिति के कार्यक्रम समन्वयक श्री अजय नामदेव ने बताया कि नवधान्य प्रमुखतः पांच बिन्दुओं पर कार्य करता है

- बीज स्वराज
- अन्न स्वराज
- भू-स्वराज
- जल-स्वराज और
- जैव विविधता।

समिति ने भी अपने उद्देश्यों में उपरोक्त पांचों बिंदुओं का बेहद शुरुआती स्तर पर समाहित करने का प्रयास किया है। समिति ने सन् 2009 से जैविक खेती को लेकर अपनी गतिविधियों को विस्तार देना प्रारंभ किया। इस समय समिति जैविक खेती के माध्यम से स्थानीय ग्रामीण महिलाओं के सशक्तिकरण को बढ़ावा देना चाहती है। वस्तुतः समिति जैविक खेती को लेकर चार आयामों पर कार्य कर रही है। पहला, जैविक खेती को आधार बनाकर, पारंपरिक बीजों को संग्रहित करना और गांव में ही बीज बैंक स्थापित करना। दूसरा,जैविक सब्जियां जिसमें जमीन के नीचे होने वाले कंद भी शामिल हैं, को लोगों तक पहुंचाना। तीसरा, स्थानीय कृषकों को रासायनिक खाद व कीटनाशकों के प्रयोग के प्रति हतोत्साहित करना और जैविक खाद एवं कीटनाशकों से जोड़ना और चौथा, बुंदेलखंड के पारंपरिक भोजन को प्रदेश के अन्य अंचलों व देश के अन्य भागों में पहुंचाना और इस पारंपरिक भोजन को पुर्नस्थापित करना।

इस हेतु महिलाओं के चार समूहों का गठन किया गया है, ये हैं,

- जैविक कृषि महिला स्व. सहायता समूह, नामापुरा,
- भू राजस्व महिला स्व सहायता समूह, नामापुरा,
- महिला शक्ति अन्न स्वराज स्व सहायता समूह, अस्तारी
- अन्न स्वराज महिला सहायता समूह, जिखनगांव

जैविक खेती का काम बहुत छोटे स्वरूप में शुरु किया गया था। शुरुआत में केवल 3 गांव ही थे। उनको देखकर 4 अन्य गांव स्वप्रेरणा से इस मुहिम में जुड़ गए। गौरतलब है इसमें महिलाओं ने ही पहल की है। अभी 8 गांवों में 15-15 महिलाओं के 9 समूह सक्रिय हैं। पिछले करीब 4 वर्षों से इन सभी गांवों में सतत् कार्य चल रहा है। शुरुआत में किसान की 25 प्रतिशत भूमि यानी 2 एकड़ भूमि हो तो उसमें से आधा एकड़ को जैविक कृषि के अन्तर्गत लिया था। धीरे-धीरे यह प्रयोगात्मक कार्य मुख्य खेती का हिस्सा बन गया। काम धीरे-धीरे आगे बढ़ रहा है। इसका विस्तार किचन गार्डन तक हुआ और अभी 40 से ज्यादा परिवार इससे जुड़ गए हैं। शुरुआत में पारंपरिक रूप से सब्जी की खेती करने वाले कुशवाह व कुम्हार परिवार इससे जुड़े और अब यादव व आदिवासी परिवार भी जुड़ गए हैं।

डा. जे.सी. कुमारप्पा के अनुसार,'जहाँ मनुष्य में बड़ी सीमा तक नयी बातें करने की हिम्मत और साहस होता है, स्त्री स्वभाव से ही स्थितिपालक और रुढ़िवादी होती है। साधारणतया पुरुष परिस्थिति के अनुकूल और स्त्री अपनी प्रकृति के अनुकूल कार्य करती हैं। और यदि ये शब्द प्रयोग कर सकें, तो पुरुष 'गुट किस्म' और स्त्री को'झुण्ड किस्म' कहेंगे। इसका सरलीकरण करें तो हम कह सकते हैं कि पुरुष हमेशा एक विशिष्ट गुट में रह कर गुटबाजी का शिकार होता रहता है, वही दूसरी ओर स्त्री बजाए गुट बनाने के एक झुण्ड या समूह में रहना पसंद करतीं हैं। झुण्ड को किसी विशिष्ट विचारधारा या मनोवृत्ति की आवश्यकता नहीं होती। सभी लोग अपनी सुविधा व विचार के साथ उसका हिस्सा बन सकते हैं।

समिति द्वारा निवाड़ी में किए जाने वाले प्रयोग को उपरोक्त लिहाज से हम 'झुण्ड किस्म' की संज्ञा दे सकते हैं। गौरतलब है मध्यप्रदेश के बुंदेलखंड अंचल में जैव विविधता में बहुत कमी आई है। इसकी वजह है बड़ी मात्रा में पेड़ पौधों की कटाई, जंगलों की बेतहाशा कटाई व बर्बादी, अत्यधिक खनन। जंगलों की कटाई से पेड़ पौधों के अलावा जीव - जंतु अर्थात पशु पक्षी के रहवास पर विपरीत पड़ा और अनेक प्राणी विलुप्ति के कगार पर पहुंच गए। बेतहाशा खनन ने यहां की भौगोलिक संरचना को ही बदल दिया और अपने स्थानीय प्रबंधन की वजह से कम वर्षा के बावजूद भरपूर पानी वाला यह क्षेत्र पिछले दो दशकों से लगातार पानी की कमी और अतिवृष्टि दोनों को साथ - साथ झेल रहा है। बड़ी मात्रा में जंगलों को काटकर वहां खेती होने लगी और इससे भी स्थानीय पर्यावरण पर बेहद प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है।

इस सबके बीच जैविक खेती करना जहां कठिन होता गया वहीं दूसरी ओर जैविक खेती कमोवेश अनिवार्यता भी बनती जा रही है। ऐसे में परिवर्तन अर्थात रासायनिक खेती से जैविक खेती की ओर रुख करना अत्यन्त दुष्कर लग रहा था। साथ ही यह भी समझ में आ रहा था कि खेती में एकाएक आमूलचूल परिवर्तन कर पाना असंभव है। इसके लिए छोटे-छोटे लेकिन सतत् प्रयास करना ही एकमात्र विकल्प है। जैविक या पारंपरिक कृषि का सबसे महत्वपूर्ण अवयव है 'बीज।' यदि आनुवांशिक रूप से प्राकृतिक वातावरण व पद्धति से विकसित बीज ही अनुपलब्ध हो जाएंगे तो जैविक खेती हो पाना ही असंभव हो जाएगा। अतः सबसे बड़ी आवश्यकता है स्थानीय जलवायु को सहन कर पाने या इसके अनुकूल बीजों की खोज और उनका संग्रह। यह उल्लेखनीय है कि पारंपरिक बीज मौसम या जलवायु में आए परिवर्तनों को ज्यादा अच्छी तरह से झेल पाते हैं और स्वमेव ही उनका इसके प्रति अनुकूलन होता जाता है। निवाड़ी जिले के गांवों नामापुर,

जिखनगांव, अस्तारी, कलौथरा, मडोरी, पोहा व विनवारा आदि गांवों में रबी के मौसम में अधिकांशतः गेहूं, चना, मटर, सरसों की उपज होती है। वहीं खरीफ में मूंगफली, उड़द, मूंग, तिल, ज्वार आदि बड़े पैमाने पर उपजाई जाती हैं। सब्जियों जैसे देशी टमाटर (टम्टी), बैंगन, बैर मकोरा, मकौड़ा (कालाबेर), झरबेरी बेर, रतालू, सूरन अंगीठा (एक किस्म का आलू) मावरी, हल्दी अदरक के बीजों के साथ ही साथ कोदो, कुटकी रागी, कठिया गेहूं आदि के बीजों का संकलन प्रारंभ किया। सर्वेक्षण के पश्चात संकलन का कार्य शुरू किया। सर्वप्रथम जिखनगांव व नामापुरा में सीड बैंक, बीजकोष के लिए स्थान अधिकृत किया गया इसी के समानांतर अस्तारी गांव में धनिया, मिर्ची, हल्दी पीसने के लिए मशीन (चक्की) लगाई गई। बीजों को मिट्टी की डाइयां (विशेष तरह के घड़े-मटके) में नीम के पत्तों के बीच रखा और उस बर्तन को मिट्टी से ही अच्छी तरह से सील कर दिया। सभी ने मिलकर यह तय किया कि जो जितना भी बीज लेगा उसका सवाया यानी 25 प्रतिशत ज्यादा वापस करेगा।

इसी के समानांतर स्थानीय फलों, जैसे महुआ, आंवला, बेल, हर्र बहेरा, मुनगा, करौंदा, कैथा (कबीट) इमली, अमरूद व आम के फलों की स्थानीय प्रजातियों को चिन्हित करना उनके उत्पाद भी तैयार किए गए। समिति ने जमीन के नीचे होने वाली सब्जियों, जैसे आलू, रतालु, अंगीठा,मावरी, हल्दी, अदरक, सकला के भी अनेक उत्पाद तैयार किए। इनमें से कई गर्भवती महिलाओं और बच्चों के लिए बेहद फायदेमंद हैं। इसके अलावा तमाम तरह की क्षेत्रीय भाजियों जैसे पालक, मेथी, चना भाजी, सरसों भाजी, नोरपा, बथुआ, कटुआ, चेंच, चौरल और पोमार को भी प्रोत्साहित किया जा रहा है। अंचल में होने वाली तमाम औषधीय वनस्पतियां यथा गिलोय, तुलसी, पत्थरचटा, एलोवेरा, सफेद मुसली, अज्जाझारों, कंजी, गुमची, गटान व करेज का संकलन व इनके उपयोग के बारे में जानकारी दी जाती है।

कोरोना के शुरुआती दौर में लगा था कि यह महामारी शायद छोटे शहरों, कस्बों व गांवों तक नहीं पहुंचेगी। परंतु ऐसा नहीं हुआ। समिति ने इस दौरान दो तरह से स्वयं के औचित्य को सिद्ध किया। पहला यह कि जिन घरों में किचन गार्डन थे, उन्हें कम दिक्कत का सामना करना पड़ा और उन्होंने बची सब्जी बजाय बेचने के आस-पास के परिवारों में वितरित की। बाजार बंद होने के बावजूद खेतों में हुई सब्जी व जमा खाद्यान्न को बड़े पैमाने पर जरुरतमंद लोगों को निःशुल्क वितरित किया गया था। इस दौरान कुल 11.50 क्विंटल सब्जी मुफ्त वितरित की गई।

समिति फरवरी - मार्च में सामूहिक बीज संकलन का कार्य प्रारंभ करती है। अभी तक घरों में ही बीज रखे जाते थे। परंतु अब नांमगांव व जिखनगांव में दो कमरों को बीज बैंक के रूप में अधिग्रहित कर लिया गया है। समिति पिछले 3 वर्षों से महिला कृषकों के साथ लगातार बैठकें कर रही है। इससे जैविक खेती और पर्यावरण को लेकर समझ भी विकसित हुई है। इस हेतु देहरादून जाकर प्रशिक्षण भी लिया है। अब तक समिति के माध्यम से 7 महिलाएं और 4 लड़के इतने प्रशिक्षित हो गए हैं कि वे स्वयं प्रशिक्षण देने जाने लगे हैं। इस वक्त कुल समिति के 165 सदस्य जैविक खेती अभियान से जुड़ गए हैं।

जहां तक बिक्री का सवाल है। सबसे पहली प्राथमिकता स्थानीय बाजार/समाज को दी जाती है। अब तो पूर्व बुकिंग तक हो जाती है। पिछले वर्ष इक्कीस टन मिनी शर्बती गेहूं नवधान्य के मुख्य कार्यालय, देहरादून भेजा गया था। इसके अलावा स्थानीय लोकमान 306 गेहूं की बुआई को भी प्रोत्साहित किया। इससे बनी रोटी टूटती नहीं है और बहुत मुलायम बनी रहती है। वैसे दालों का उत्पादन अभी बिक्री जितना नहीं हो पाता है। यह अभी घरेलू उपयोग में ही आती है।

समिति ने अपने उत्पादों की बिक्री हेतु भोपाल में बड़ा बाजार विकसित किया है। झांसी के अलावा भोपाल में भी इसका विक्रय केंद्र (स्टाल) है यहां सब्जियां बड़े पैमाने पर बेची जाती हैं। स्थानीय हाट बाजारों में भी जैविक (आर्गेनिक) उत्पादों का स्टाल लगाया जाता है। इससे स्थानीय आबादी को भी दोनों तरह की खेती से आने वाले उत्पादों (फसलों) की गुणवत्ता का तुलनात्मक अध्ययन का मौका मिल जाता है। इससे परिवर्तन में तेजी आ सकती है।

इसके अतिरिक्त अपने समूहों के अलावा तमाम अन्य कृषि समूहों और स्थानीय लोगों के बीच रासायनिक खाद व कीटनाशकों के बारे में विस्तार से समझाया जाता है और उनसे अपेक्षा की जाती है कि वे बिना किसी दबाव के अपने आप निर्णय लें। समिति का एक अन्य उद्यम है पके पकाए पारंपरिक बुंदेली व्यंजनों का प्रचार व प्रसार। इस हेतु खजुराहो नृत्य उत्सव, दिल्ली, ओरछा, झांसी, देहरादून में व्यंजन मेले आयोजित किए गए। समिति के प्रयास से ओरछा व खजुराहो के अनेक होटलों व रेस्टॉरेंटों में बुंदेली थाली मीनू कार्ड में जुड़ गई है। इसमें कढ़ी/देवल, चने की दाल, बड़ा-मुंगौड़ा, रोटी व भात शामिल हैं। साथ ही महुए के भी अनेक व्यंजन तैयार किए गए हैं। गौरतलब है महुआ का एक पेड़ एक साल में अपने फूल, महुआ, गुली (तेल) व खली के माध्यम से 20000 रु. तक की आमदनी दे देता है।

नवधान्य के साथ जुड़ने से समिति को तकनीकी व अन्य कई लाभ मिले हैं। समिति के माध्यम से शुरुआत से ही केन-बेतवा नदी जोड़ का विरोध किया गया था और इसी वजह से नवधान्य से संपर्क भी हुआ था। 40 वर्ष पुरानी यह संस्था आज एक नए कलेवर में हम सबके सामने है। समिति ने कई प्रकाशन भी किए हैं। वैसे समिति अभी स्वयं को विस्तारित व नवीनीकृत करने की प्रक्रिया में है। इसे जैविक खेती के क्षेत्र में पदार्पण किए अभी 3-4 वर्ष ही हुए हैं, परंतु इस लिहाज से प्रगति को सराहा जा सकता है। सारी दुनिया यह मान रही है कि वैश्विक कृषि का भविष्य छोटे किसानों के हाथों में ही सुरक्षित रह सकता है। ऐसे में समिति का वर्तमान कार्य बेहद महत्वपूर्ण बन पड़ा है। गौरतलब है सन् 1889 एवं 1891 के मध्य तत्कालीन ब्रिटिश-भारतीय सरकार ने रायल एग्रीकल्चर सोसाइटी के रसायनशास्त्र विभाग के परामर्शदाता डा. जॉन अगस्तस वेलकर को भारतीय कृषि में सुधार हेतु सुझाव देने हेतु भारत बुलाया था। उन्होंने जो निष्कर्ष निकाला वह बेहद रोचक है। वे कहते हैं,'मैं यह कतई मानने को तैयार नहीं हूं कि भारत की खेती पुरानी और पिछड़ी हुई है। कहीं कहीं थोड़ा सुधार जरुरी है, लेकिन इंग्लैंड के मुकाबले यहां आपके पास उन्हें बताने लायक कुछ भी नहीं है। यहां के किसान हमारे मुकाबले ज्यादा प्रगतिशील हैं।'

जब एक गुलाम मुल्क अपने औपनिवेशिक शासक से ज्यादा प्रगतिशील था तो आज 150 वर्ष पश्चात् उसे पिछड़ा मानने का कोई कारण नहीं है। कोशिश इतनी ही होना चाहिए कि हम भटकी राह से वापस लौट आएं।' बहुजन हिताय शिक्षा प्रसार समिति जैसी संस्थाएं इसी दिशा में अग्रसर हैं।

प्रसून

पत्थर पर फूल खिलाने की कोशिश

'प्रसून' का अध्ययन करते हुए एकाएक यह विचार उभरता है कि भारत में नागरिक संस्थाओं की दूसरों पर आर्थिक निर्भरता को आत्मनिर्भरता में किस तरह बदला जा सकता है। प्रोजेक्ट आधारित गतिविधियां फंडिग की समय सीमा समाप्त हो जाने के बाद, स्थितियां पुन: शुरुआती अवस्था की ओर लौटने लगती हैं। यह संस्था और समुदाय दोनों के लिए निराशजनक स्थिति है। अतएव आवश्यकता इस बात की है कि आर्थिक स्थायित्व की दिशा में कार्य हो।

गोरख पांडेय की कविता है, 'कानूनन समान है/वह स्वतंत्र भी है/बड़े-बड़े भी नजरों में तो/धन का एक यन्त्र भी है/भूल रहे हैं वे/सबके ऊपर वह मनुष्य है।'

'देश के लिए हमें आदर्श मजदूरों की जरुरत है। वे इस चिन्ता में न पड़ें कि उन्हें खाने-पहनने को क्या मिलेगा या गांवों के लोग उन्हें क्या-क्या सुविधाएं देंगे। अपनी आवश्यकताओं को वे श्रद्धापूर्वक ईश्वर पर छोड़ दें और इसमें उन्हें जो भी कठिनाइयां या दु:ख सहने पड़ें उनमें भी वे सुख मानें। जिस देश में 7 लाख गांवों का विचार करना है, वहां यह सब अनिवार्य है। हम ऐसे वेतन भोगी सेवक नहीं पुरा सकते, जिनकी नजर हमेशा वेतन वृद्धि, प्रॉविडेन्ट फण्ड या पेंशन पर रहती है। हमारे लिए तो ग्रामवासियों की निष्ठामय सेवा ही संतोष है।'

- *महात्मा गांधी*

'प्रसून' यानी फूल का खिलना। एक कली का विस्तार। प्रसून का एक और अर्थ, 'जन्म लेना' भी होता है। वर्तमान 'प्रसून' संस्था भी एक पौधे को रोपने, उसके बड़े होने और फिर उसमें फूल खिलने की प्रक्रिया जैसी ही है। प्रसून का मुख्यालय तो भोपाल में श्यामला हिल्स स्थित गांधी भवन परिसर में है, लेकिन इसकी कार्यस्थली गंजबासौदा (जिला विदिशा) ही है। जो जिला मुख्यालय से करीब 90 कि.मी. की दूरी पर स्थित है। 'प्रसून' आज एक परिपूर्ण सामाजिक संस्था के तौर पर कार्य करने हेतु तत्पर है। वैसे इसका रजिस्ट्रेशन सन् 1984 में हुआ था। तब श्री रामचन्द्र भार्गव, श्री प्रफुल्ल माहेश्वरी (नवभारत के संपादक व स्वामी), श्री पुरुषोत्तम दास काबरा(व्यापारी), व ओमप्रकाश मेहता के संयुक्त प्रयास से इसका गठन हुआ था। शुरूआत में संस्था ने भोपाल गैस त्रासदी से हुई विभीषिका से निकले प्रभावितों को राहत देने का कार्य किया। तदुपरांत यह संस्थान बालश्रम के खिलाफ सक्रिय हुआ। तब इसे कासा एवं क्राय से आर्थिक मदद मिली। भोपाल त्रासदी में बड़ी संख्या में या तो बच्चे अनाथ हुए थे या उनके माता-पिता कार्य कर पाने में अक्षम हो गए थे। अतएव बालश्रम मिटाने के लिए कार्य करना एकतरह की अनिवार्यता भी थी। धीरे से कार्य शिक्षा की ओर मुड़ा और सन् 1994 तक कमोवेश इसी तरह से कार्य चलता रहा। सन् 1994 में श्री गौतम बंदोपाध्याय और श्री राजगोपाल पी.वी. ने इसको संभाला और इसके कार्यक्षेत्र को खंडवा तक विस्तारित किया। सन् 1994-95 में इसके अन्तर्गत कुपोषण, आजीविका और महिला सशक्तिकरण जैसे कार्यों को समाहित किया गया। श्री गौतम बंदोपाध्याय ने इस संस्था में करीब 8 वर्षों तक कार्य किया। इसके बाद स्व. श्री रामचंद्र भार्गव संस्था को पुनः भोपाल लौटा लाए।

सन् 2002 में संस्था श्री सुधीर भार्गव को सौंप दी गई। इसके बाद करीब 5-6 वर्षों तक इसके अन्तर्गत गतिविधियां नहीं हो पाई। यह संस्था जैसे गांधीभवन की चारदीवारी में सीमित होकर रह गई थी। इसी दौरान कुछ फंडिंग की व्यवस्था हुई। और 'प्रसून' ने रायसेन जिले के ओबेदुल्लागंज के सुदूर गांव भीमाकोसी गांव में कार्य प्रारंभ किया। यह एक वनग्राम था। वहां तब तक सड़क नहीं पहुंची थी और स्थानीय आदिवासियों ने साइकल तक नही देखी थी। श्री रामचंद्र भार्गव से बात करने बाद कुल 6700 रुपए प्राप्त हुए। वहां पर एक विद्यालय की शुरूआत हुई। आदिवासी नेताओं ने भी इस पहल का स्वागत किया और तत्कालीन डीआईजी (पुलिस उप महानिरीक्षक) सुश्री अनुराधा शंकर ने इसका उद्घाटन किया। इस विद्यालय की शुरूआत एक झोपड़ी में हुई थी और छात्रों को गणवेश (यूनिफार्म) व किताबें आदि दी गई। धीरे-धीरे यह विद्यालय पांचवी

तक का हो गया और अंततः इसे राज्य सरकार ने अधिग्रहित कर लिया। गौरतलब है, प्रसून के वहां पहुंचने के पहले तक इस गांव में कभी जनगणना भी नहीं हुई थी। साल में एकाध बार कोई सरकारी अधिकारी यहां पहुंचता था।

प्रसून की एक अन्य विशिष्ट गतिविधि रही है, 'नशा मुक्ति केंद्र'। यह भोपाल में स्थित है। इसके अन्तर्गत विशेषज्ञों की सहायता से नशामुक्ति का कार्य किया जाता रहा है। इस केंद्र में शराब व ड्रग एडिक्ट दोनों ही आते रहे हैं। अभी इसकी गतिविधि थमी हुई हैं।

सन् 2013 में संस्था के लिए एक नए युग की शुरूआत हुई। इसके अन्तर्गत टीडीएच के माध्यम से गंजबासौदा (जिला विदिशा) में परियोजना की शुरुआत हुई। प्रसून ने 'खदान मजदूरों के बेहतर स्वास्थ्य व शिक्षा' के लिए कार्य प्रारंभ किया। यह परियोजना सन् 2013 से 2016 तक के लिए थी। लेकिन स्थानीय सहयोग से यह अब भी जारी है। इसमें स्वास्थ्य व शिक्षा जैसे मुद्दों पर केंद्रित किया गया था। इसके अन्तर्गत 26 गांवों के करीब 26000 लोग जुड़े थे। इसी के साथ 5000 खदान मजदूरों से सीधा संपर्क था। इसमें तीन मुख्य विषयों या व्याधियों पर विशेष ध्यान दिया गया था। ये हैं, सिलिकोसिस, टीबी (तपेदिक) और कुपोषण। इस परियोजना के अन्तर्गत सिलिकोसिस व टीबी के उपचार के लिए सरकारी अस्पताल को माध्यम बनाया गया था। इस हेतु हर गांव में दो स्वयंसेवक तैनात थे, जो वहां की पूरी जानकारी रखते थे।

गौरतलब है गंजबासौदा, तहसील पत्थर की खदानों और इसके व्यापार के लिए भी जानी जाती है। यहां के गंजबासौदा व त्योंदा विकासखंड में दलितों के साथ सहरिया जनजाति, जो कि विशेष पिछड़ी जनजाति में आती है बड़ी संख्या में निवास करती है। स्थानीय तौर पर इन्हें सेहेर, सैर, सओंर, सहरा जैसे नामों से भी पुकारा जाता है। ये लोग आज भी बुनियादी सुविधाओं के अभाव में रह रहे हैं। यहां का इलाका बेहद पथरीला और कम उपजाऊ है। साथ ही कुछ क्षेत्रों में गर्मी भी अधिक होती है। यहां पर जो मकान बनते हैं, वे पूरी तरह से पत्थर के होते हैं। इस वजह से गर्मियों में इनमें रह पाना खासकर दोपहर में कमोवेश असंभव व असह्य हो जाता है। ठीक से मकान न बना पाने की वजह है दारूण गरीबी। स्थानीय लोग यहीं की पत्थर खदानों में काम करते हैं और जब यहां काम नहीं मिलता तब राजस्थान में संगमरमर और पत्थर खदानों में काम करने हेतु पलायन करते हैं। काम (खनन) के दौरान सुरक्षा उपायों और उपकरणों का अभाव होने से

ये लोग सिलिकोसिस नामक असाध्य बीमारी की चपेट में आ जाते हैं। इस बीमारी के शुरूआती लक्षण टी.बी. जैसे ही होते हैं। अतएव शुरूआती इलाज इसी का होता है। गौरतलब है, सिलिकोसिस एक लाइलाज बीमारी है। इसमें पीड़ित बहुत दर्दनाक मौत का शिकार होता है।

श्री सुधीर भार्गव का कहना है कि मजदूरी के नुकसान के डर से श्रमिक नियमित जांच के लिए सरकारी अस्पताल भी नहीं जाते। कई तो झोलाछाप डॉक्टरों के चक्कर में पड़कर घर पर ही अकाल मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं या अस्पताल जाने से पहले ही मर जाते हैं। उनका उपचार टीबी मानकर चलता रहता है। श्री भार्गव का कहना था कि 1 साल कोशिश करने के बाद लोग जुड़ने शुरु हुए। 25 गांवों में शुरूआती सर्वेक्षण में ही 200 से ज्यादा लोगों में टीबी जैसे लक्षण पाए गए। इस बीच डॉ.मुरली से संपर्क हुआ। इनवायरनमेंट ट्रस्ट, दिल्ली के सहयोग में यहां सिलिकोसिस तलाशने के लिए एक तीन दिवसीय शिविर आयोजित किया गया। करीब 300 मरीज आए। इसमे से 68 लोग सिलिकोसिस पीड़ित पाए गए। स्थानीय खदानों के अलावा राजस्थान में कार्य करने वाले मजदूरों मे भी सिलिकोसिस पाया गया। अधिकांशतः खदानों में पत्थरों मे छेद करने वाले इस बीमारी से पीड़ित हुए थे। गंजबासौदा से अधिकांश पलायन कर भीलवाड़ा (राजस्थान) जाते हैं। याद रखने योग्य बात यह है कि मध्यप्रदेश में सभी को मुआवजे की सुविधा मिलती है, पलायन करके आने वालों को भी। हमने राजस्थान सरकार से भी चर्चा की एवं खदान मजदूरों को भामाशाह कार्ड मिलना सुनिश्चित करवाया है।

अब मध्यप्रदेश में भी असंगठित खदान मजदूरों को 3 लाख रुपए तक पुनर्वास देने एवं मृत्यु पर 2 लाख का भुगतान होता है। हमारी नीति को राजस्थान सरकार ने तो लागू कर दिया है, लेकिन मध्यप्रदेश ने अभी लागू नहीं किया है।

इसी को लेकर हमने 'पत्थर खदान श्रमिक संघ' का गठन गांव स्तर पर करवाया। इसमें 25 गांव के लोग शामिल हैं। सिलिकोसिस अभी भी आम है, लेकिन दुःखद यह है कि सरकारी विभाग इस वास्तविकता को स्वीकार ही नहीं कर रहे हैं। कोविड के दौरान तो और भी बुरी स्थिति हो गई थी। डॉक्टरों की संख्या भी काफी कम हो गई थी। सिलिकोसिस की जांच तक नहीं हो पा रही थी। ये टीबी बताकर इलाज कर रहे थे। सभी को टीबी ही बता रहे थे। अब तो छोटे बच्चों में भी सिलिकोसिस पाया जाने लगा है, क्योंकि माता-पिता बार-बार, गुजरात जाने लगे हैं। वहां मशीन से काम होने की वजह से इस बीमारी के होने की संभावना बहुत बड़ जाती है। वहीं जिला अस्पतालों व ग्रामीण प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्रों पर तो बात करना यानी समय बर्बाद करना ही है।

यही आज की दुनिया है। इसी पत्थर की गगनचुंभी इमारत बना कर कुछ लोग आसमान को हाथ से छूने की कोशिश में हैं और लाखों भारतीय प्रतिवर्ष सिलिकोसिस से मर रहे हैं। पर गौर करिए सिलिकोसिस से सिर्फ खदानों में या पत्थर पिसाई करने वाले पीड़ित नहीं हो रहे है। पत्थर को घिस कर मोती बनाने वाले भी इसका शिकार हो रहे हैं। और बाबा साहब अम्बेडकर, हाथी, कांशीराम और मायावती की मूर्तियां बनाने वाले दलित भी इसका शिकार हुए हैं। बहरहाल 'प्रसून' ने इस लाइलाज बीमारी से ग्रसित लोगों को थोड़ा सुकून देने की कोशिश तो की ही है।

गौरतलब है 'प्रसून' संस्था के कार्यो में स्वास्थ्य संबंधी गतिविधि प्रमुख है। इनके कार्यक्षेत्र में टीबी का प्रकोप भी बड़े पैमाने पर है। टीबी में दवा के साथ ही साथ पोषक आहार का सेवन भी अनिवार्यता है। वहीं दूसरी ओर संस्था 'बच्चों के अधिकारों' को लेकर भी बेहद सक्रिय है। मध्यप्रदेश में बच्चे भी ब़ड़ी संख्या में कुपोषण का शिकार हैं और इससे होने वाले स्वास्थ्य दुष्परिणामों से जीवनभर प्रभावित रहते हैं।

सुधीर भार्गव ने बताया कि संस्था ने सन् 2013-14 से यह प्रयास प्रारंभ किया कि लोगों को पोषण आहार की उपलब्धता हो सके। इसके लिए विदिशा जिले के विभिन्न गांवो में 'किचन गार्डन' की योजना प्रारंभ की। इसकी शुरूआत ग्राम 'बारोद' से की। संस्था के वालंटियर्स अब 25 गांवों के करीब 500-600 नए परिवारों को प्रतिवर्ष भिन्न-भिन्न प्रकार के बीज देते हैं। इस तरह से अब तक करीब 3000 परिवार किचन गार्डन की योजना से जुड़ चुके हैं। इसके बाद संस्था ने एक भिन्न प्रयोग किया। इन क्षेत्रों में सामुदायिक किचन गार्डन के विचार को प्रचारित एवं प्रसारित किया। साथ ही सामुदायिक रसोई के विचार को भी आगे बढ़ाया। इसके अन्तर्गत गांव की ऐसी जमीन जो किसी के अधिकार में नहीं आती वहां इस योजना को प्रारंभ किया गया। अभी यह प्रयोग 6-7 गांवों में चल रहा है। साथ ही इस बात का प्रयास किया गया कि अधिक से अधिक युवाओं को खेती किसानी और इससे जुड़ी गतिविधियों से जोड़ कर आर्थिक रूप से सक्षम बनाने का प्रयास किया जाए। ऐसा इसलिए भी आवश्यक जान पड़ा क्योंकि इस क्षेत्र से बड़े पैमाने पर पलायन भी होता है।

श्री भार्गव का कहना है कि इस वर्ष हमें फंड नहीं मिल पाया। अब हमारे साथ कोई फंडर या दानदाता नहीं हैं, इसके बावजूद संस्था ने अपनी गतिविधियों को पूरी तरह से बंद नहीं होने दिया। इस वर्ष बीज न दे पाने की स्थिति बनने पर संस्था ने गांवों, किसानों के अपने बीज बैंक विकसित करने की मुहिम शुरू की। इसमें प्रयास यह किया कि बीज स्थानीय हों और ज्यादा फसल भी देते हों। स्थानीय तौर पर करीब 30 प्रकार के बीज इकट्ठा किए गए। इसमें पालक, मेथी जैसी सब्जियों के बीज भी शामिल हैं। इस हेतु करीब 1.50

लाख रुपए का प्रबंध हो पाया था। इसी के साथ शासकीय उद्यानिकी के माध्यम से भी बीजों और रोपों का वितरण किया गया। यहां इस बात का उल्लेख करना जरूरी हैं कि संस्था के माध्यम से जितने भी किचन गार्डन या अन्य खेती के उपक्रम चल रहे हैं, उनमें रासायनिक खाद एवं रासायनिक कीटनाशकों का प्रयोग नहीं होता है।

किचन गार्डन के उपक्रम में सफलता के बाद गांवों के स्तर पर जैविक खेती को प्रोत्साहित करने का कार्य हाथ में लिया गया। इस कार्य की शुरूआत सन् 2017 में की गई थी। यह कार्य अभी 12 गांवो मे चल रहा है। इसमें देशी बीजों और गोबर की खाद आदि का ही प्रयोग किया जाता है। शुरूआत में सब्जी और खाद्यान्न की खेती की गई। इसके बाद धीरे-धीरे औषधीय खेती की ओर कदम बढ़ाएं। इस सबमें स्थानीय प्रगतिशील किसान श्री सीताराम शर्मा का असाधारण योगदान रहा है। वे लगातार कृषि कार्यों का निरीक्षण करते रहे हैं। औषधीय खेती की शुरूआत 'अश्वगंधा' से की। शुरूआत में ही 8 किसान सामने आए। इस खेती ने उन्हें काफी आर्थिक लाभ दिया। बाद में तुलसी व कलौंजी का उत्पादन भी किया गया। गौरतलब है, तुलसी बंजर जमीन में भी हो जाती है और आईटीसी जैसी बड़ी कंपनियां इसकी सीधी खरीद करती हैं। कलौंजी का उत्पादन इसी वर्ष किया गया है। गौरतलब है पहले सभी कृषि उत्पादों को कम कीमत पर स्थानीय मंडी में ही बेचना पड़ता था। परंतु अब सभी किसान अपनी फसल इकट्ठा कर लेते हैं, और सुदूर, जावरा (जिला- रतलाम) जो कि मसालों की बड़ी मंडी है, वहां पर अपने उत्पाद ट्रेक्टर से ले जाकर बेचते हैं।

इसी के समानांतर संस्था ने 5 जून 2021, पर्यावरण दिवस से पौधारोपण का कार्य भी उद्यानिकी विभाग के सहयोग से आरंभ किया। यह कार्य भी 25 गांवो में शुरू किया गया और इसमें फल देने वाले पौधे अधिक संख्या में लगाए गए। गौरतलब है यह इलाका बंजर और पठार का है अतएव यहां आम, जामुन, अमरूद, आंवला, मुनगा, सहजन के पौधे ही लगाए गए। भविष्य में इसके अच्छे परिणाम सामने आ सकते हैं।

गंजबासौदा तहसील के ग्राम बावली के किसान सीताराम शर्मा पारंपरिक किसान परिवार से हैं और मूलतः दाउद बासौदा के रहने वाले हैं। शर्मा को खेती में आनंद आता है। उनकी करीब 45 बीघा जमीन है, जिसमें वे गेहूं, मटर, धनिया, मेथी, पालक व अन्य सब्जियां लगाते हैं। गेहूं व सब्जियां, गंजबासौदा व स्थानीय मंडी में बेचते हैं। उनका कहना है कि वे संस्था से संपर्क में आने के बाद पूरी तरह से जैविक खेती कर रहे हैं। उनके प्रयासों से ही पांच गांवों के करीब 40 एकड़ क्षेत्र में अश्वगंधा लगाई गई है। इसका चूर्ण इम्यूनिटी (रोग प्रतिरोधक क्षमता) बढ़ाने के काम आता है व पिछले वर्ष इन खेतों में करीब 7.50 लाख का उत्पादन हुआ। इसके अलावा इसकी जड़, भूसा व बीज की ग्रेडिंग कर उसे अलग से बेचा जा सकता है। सबसे कीमती जड़ होती है जो 30.000 रुपए क्विंटल के भाव में बिकती है। यह फसल 5 महीने में तैयार हो जाती है। उनका कहना था कि 'कलौंजी' का भाव भी अच्छा मिल जाता है। इस वर्ष इसका मूल्य भाव 13.000 रुपए प्रति क्विंटल रहा। वैसे यह 30.000 तक हो जाता है। एक एकड़ में 6 क्विंटल कलौंजी हो सकती है, अतएव यह बेहद फायदेमंद फसल साबित हो सकती है। 'तुलसी' को लेकर किसानों में असमंजस की स्थिति बनी हुई है। पहले एवं कोरोना के दौरान, इसकी पत्ती और डंठल दोनों बिक जाते थे परंतु अब केवल पत्तियां ही बिक रही है। इसकी मांग भी कोविड-19 के बाद कम हुई है और भाव मे भी कमी आई है।

श्रीमती गौरा पटेल गांव की सरपंच हैं। पूर्व में प्रसून की सक्रिय कार्यकर्ता रही हैं। उन्होंने आंगनवाड़ी के साथ मिलकर 0-5 वर्ष तक के बच्चों का घर-घर जाकर सर्वेक्षण किया है। वे करीब 10 साल तक संस्था से जुड़ी रहीं। अब जिम्मेदारी बढ़ने से यह काम नहीं कर पा रहीं हैं। फिर भी हफ्ते में 2 से 3 बार वे गांव का चक्कर लगाकर बच्चों के लिए कार्य करती हैं। उनका कहना है कि बच्चों की सेहत में अब सकारात्मक फर्क आ रहा है। कभी भी किसी तरह की समस्या होने पर लोग उन्हें अभी भी बुलाते हैं।

गांव के कई घरों मे 'किचन गार्डन' देखने को मिले। इसी में ये लोग वर्मी कम्पोस्ट का कार्य भी कर रहे हैं। ये लोग व्यवसायिक तौर पर 'फसल टानिक' भी तैयार करते हैं। इस गांव का खाद तैयार करने का अपना फार्मूला है। इसमें ये लोग 1 किलो सोयाबीन, 500 ग्राम महुआ, 250 ग्राम सुरजना फली, 500 ग्राम गुड़, 1 किलो गेंदाफूल और 6पके केले को 5 लिटर पानी में घोल के पेस्ट बनाकर इसे 7 दिनों तक

रखते हैं और फिर इसे 200 लिटर पानी में मिला देते हैं। यह घोल 1 एकड़ जमीन के लिए काफी होता है। यानी एक एकड़ की खाद के लिए इन्हें करीब 250 से 300 रुपए ही खर्च करने पड़ते हैं। इनका कहना है कि इस खाद से न केवल फसल अच्छी आती है बल्कि उत्पाद बेहद चमकदार भी होता है। साथ ही उत्पाद का आकार भी बड़ा हो जाता है। इसी के साथ ये पांच पत्तियों का काढ़ा बनाकर इसे कीटनाशक की तरह इस्तेमाल करते हैं। ये पत्तियां हैं नीम, करंजी, सीताफल, बेशरम, आंकड़े की व इसमें 5 लिटर गौमूत्र मिलाते है। इसे भी 200 लिटर पानी में मिलाकर एक एकड़ में इस्तेमाल करते हैं। इसी तरह देशी गाय के कंडे को पानी मे भिगोकर उसका छिड़काव करते हैं। उनका कहना है कि इससे पौधे मजबूत होते हैं। गांव में तकरीबन प्रत्येक परिवार में पशु- गाय, बैल, भैंस मौजूद हैं। वे इनका बेहद ख्याल भी रखते हैं। चूंकि इस इलाके में बहुत ज्यादा गर्मी पड़ती है, अतएव लगभग प्रत्येक बाड़े में इन पशुओं के लिए पंखों की व्यवस्था है।

संस्था की वजह से गांव में 40x100 वर्गफीट (करीब 4000 वर्गफीट) मे सामुहिक किचन गार्डन मौजूद है। एक गार्डन पर करीब 5 परिवार निर्भर है। ये मिलजुल कर इसमें सामूहिक श्रम करते हैं। यहां जो भी पैदावार होती है, वह सभी घरों में जरूरत के हिसाब से आपस मे बाँट ली जाती है। बटवारा भी अपने आप होता है। इसमें मक्का, नींबू, बाजरा, और कपास के अलावा तमाम किस्मों जैसे बैंगन, धनिया, टमाटर, मैथी जैसी सब्जियां होती हैं। इस बगीचे में दो अनूठे पेड़ हैं। पहला है नींबू का इसके अनगिनत नींबू लगते हैं और इससे सभी परिवारों की पूर्ति हो जाती है। दूसरा है कपास का वृक्ष, जी हां वृक्ष! इसमे न केवल पूजा के लिए कपास की पूर्ति होती है बल्कि प्रतिवर्ष इस एक पेड़ से इतना कपास प्राप्त हो जाता है कि एक परिवार अपनी रजाई भरवा लेता है। कपास का पेड़ साल में दो बार फूलता है। इन परिवारों का कहना है कि इस किचन गार्डन की वजह से प्रत्येक परिवार को प्रतिमाह 1 हजार रुपए तक की अतिरिक्त बचत हो जाती है।

संस्था का अपना एक रिसोर्स सेंटर है, जिसमें सरकारी पेशन आदि के फार्म जांचे जाते हैं। कुछ कमी होने पर उनकी पूर्ति की जाती है।

निष्कर्ष : 'प्रसून' एक दीर्घकालीन उद्देश्य को ध्यान में रखकर गठित की गई संस्था है। पिछले करीब चार दशकों की अपनी कार्यअवधि में संस्था ने अनेक उतार-चढ़ाव देखे हैं। संस्था ने स्थायी कार्यों के समानांतर कोविड-19 के समय असाधारण रूप मे साहस भरी गतिविधियां भी करी हैं। सामाजिक विकास के लक्ष्य को शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार, की उपलब्धता के माध्यम से पाने के लिए संस्था कार्यरत रही है। संस्था के कार्यकर्ता काफी लगनशील हैं और उनके प्रयासों से स्थानीय ग्रामीणों में न केवल आत्मविश्वास ब्रढ़ा है, बल्कि वे नवाचार की ओर भी अग्रसर हुए हैं। आर्थिक परनिर्भरता होने की वजह से अन्य संस्थाओं की तरह 'प्रसून' भी हमेशा अपने अस्तित्व के संकट को लेकर हैरान-परेशान बनी रहती है। वर्तमान में तो परिस्थितियां बहुत ही भयावह हैं। इसके बावजूद हौसला बना हुआ है।

स्व. श्रीपाद अच्युत दाभोलकर अपनी प्रयोग गीता की शुरूआात में लिखते हैं,'दिखाऊ श्रम नहीं चाहिए। समृद्धि असीमित है, कहीं अकाल नहीं होगा। अपने परिसर में अत्याधुनिक वैज्ञानिक भाषा में संवाद स्थापित संसाधनों से सहजमुक्त और युक्ति पूर्ण संवाद होना चाहिए। अपने परिसर से संकलित समृद्धि का पारिवारिक रिश्ता मजबूत होना चाहिए।'

प्रसून ने इसी दिशा में कदम उठाया है।

जन जागरूकता
पुनर्वास ग्राम नया
तह.-माखन नगर,

काकड़ी गांव

हरियाली के साथ आजीविका की रक्षा

विस्थापन शब्द सुनते ही एक उजाड़ तस्वीर सामने आती हैं। देश में पुनर्वास की जो तस्वीरें दिखाई देती हैं, वह बहुत अच्छी नहीं है, लेकिन एक पुनर्वासित गांव काकड़ी ने जब खुद को नई जगह बसाया तो बेहतर योजना और क्रियान्वयन ने उन्हें एक मॉडल गांव में बदल दिया और यह सब इस गांव ने खुद अपने बलबूते किया। पढ़िए इस कहानी में...

नर्मदापुरम जिला

यह जिला भौगोलिक रूप से दो भागों में विभक्त है। एक है सतपुड़ा पर्वतमाला, और दूसरा है नर्मदा कछार। मोटे तौर पर सतपुड़ा के जंगल में गोंड और कोरकू निवास करते हैं और नर्मदा के कछार में अन्य कृषक जातियां। जिला मुख्यालय, होशंगाबाद, जो नर्मदा किनारे स्थित है। नर्मदा ही इस जिले की उत्तरी सीमा निर्धारित करती है। पूर्व में दूधी नदी है, जो एक तरह से जिले की सीमा बनाती है।

सतपुड़ा टाइगर रिजर्व

होशंगाबाद (अब जिले का नाम नर्मदापुरम हो गया है) जिले में वन्य प्राणियों के लिए तीन सुरक्षित क्षेत्र बनाए गए हैं- सतपुड़ा राष्ट्रीय उद्यान, बोरी अभयारण्य और पचमढ़ी अभयारण्य, तीनों को मिलाकर सतपुड़ा टाईगर रिजर्व बनाया गया है। पचमढ़ी नामक हिल स्टेशन इनके बीच स्थित है। इसके लिए गांव विस्थापित हुए हैं।

काकड़ी गांव, सतपुड़ा अंचल का एक विस्थापित गांव है, जो सतपुड़ा टाइगर रिजर्व से विस्थापित है। इसमें 34 घर हैं, सभी कोरकू आदिवासी हैं। इसकी आबादी करीब 200 के आसपास है। नर्मदापुरम (पूर्व में होशंगाबाद जिला था) जिले का यह गांव नया धांई पंचायत के अंतर्गत आता है। विकासखंड व तहसील बाबई है।

किसान आदिवासी संगठन की प्रेरणा से बदलाव के बीज

इस इलाके में 80 के दशक में आदिवासियों के हक व इज्जत के लिए किसान आदिवासी संगठन का गठन हुआ। इस संगठन ने आदिवासियों के जल, जंगल, जमीन, खेती-किसानी, रोजगार जैसे कई मुद्दों के लिए संघर्ष किया। चूंकि आदिवासियों का जीवन मुख्य रूप से जंगल पर निर्भर है। इसलिए इसके बचाने को लेकर ज्यादा जोर दिया गया। इसके लिए सम्मेलन व रैलियों में चर्चा होती थी।

90 के दशक में बोरी अभयारण्य के जंगलों में कुछ बाहरी लोग वनोपज एकत्र करने के लिए आने लगे। वे वनोपज के साथ ताबड़तोड़ तरीके से पौधों को भी नुकसान पहुंचाते थे। कच्चे फलों को भी तोड़ते थे। जब इस मुद्दे को किसान आदिवासी संगठन में उठाया गया, तो पेड़ों को बचाने की पहल शुरू हुई। यह तय हुआ कि जंगलों की रखवाली की जाए, और यह सुनिश्चित किया जाए कि जंगल को नुकसान न पहुंचाया जाए। यह तब की बात है, जब काकड़ी भी बोरी अभयारण्य के अंदर था। काकड़ी के लोग संगठन से जुड़ाव रखते हैं। इसलिए नई जगह को हरा-भरा बनाने की सोच भी उनके मन में बनी रही।

जंगल से जुड़ने रहने की सोच

गांव के जयसिंह ने बताया कि यहां के अधिकांश आदिवासियों को पुनर्वास के लिए 5 एकड़ जमीन और ढाई लाख रुपए दिए गए हैं। ऐसे 30 आदिवासी परिवार हैं, जिन्हें ज़मीन मिली है। बाकी लोगों को पुनर्वास के लिए प्रति वयस्क व्यक्ति 10 लाख रुपए दिए गए हैं। इस गांव के आदिवासियों में शुरू से एकता थी और वे मिलकर सामूहिक रूप से काम करते थे।

उन्होंने बताया कि हरा-भरा बनाने की पहल इसलिए भी की गई, क्योंकि हमारा पुराना गांव बोरी अभयारण्य के अंदर था। वहां भी वह एक हरा-भरा स्वावलंबी गांव था। हम एक ज़माने में बाज़ार से नमक और कपड़ा खरीदते थे, बाकी जरूरत की चीजें अपने खेत से ही पैदा करते थे। कुछ चीजें हमें जंगल से मिल जाती थीं। जंगल व पेड़ों के बिना आदिवासी नहीं रह सकते हैं। दातौन से लेकर शादी-विवाह व पूजा पद्धतियों में पेड़ों की जरूरत होती है, उनकी कमी महसूस न हो इसलिए बड़े पैमाने पर पेड़ लगाए गए। नए गांव को स्वावलंबी व हरा-भरा व स्वच्छ बनाने की सोच बनी।

गांव को हरा-भरा बनाने की पहल

वे आगे बताते हैं कि इस बदलाव की कहानी वर्ष 2015-16 से शुरू हुई, जब यह गांव सतपुड़ा टाइगर रिजर्व से विस्थापित होकर यहां नए गांव के रूप में बसने के लिए आया। सबसे पहले गांव के लोगों ने बैठक कर तय किया कि किस तरह गांव बसेगा, कहां से सड़क निकलेगी, कितनी चौड़ी होगी, घर कहां बनेगा, घर के लिए कितनी जमीन छोड़ेंगे और आंगन के लिए कितनी जगह छोड़ी जाएगी। पेड़ लगाने के लिए कितनी जगह लगेगी और किस प्रजाति के पेड़ लगाए जाएंगे।

जयसिंह बताते हैं कि आपसी विचार विमर्श के बाद गांव की पूरी योजना तैयार की गई। गांव की पुनर्वास समिति के अध्यक्ष, सचिव व सदस्य सभी इस बैठकों में शामिल होते थे। योजना के अनुसार जब लोगों ने उनके घर बनाना शुरू किए, पंक्तिबद्ध मकान बनाए गए और उनके आगे 50 फुट जमीन खाली छोड़ी गई। इनमें दो पंक्तियों में फलदार व छायादार पेड़ लगाए गए। इसके पहले पिपरिया, मटकुली, पचमढ़ी की नर्सरी से भी फलदार व छायादार पौधे लाए गए और रोपे गए।

विविधता की सोच

गांव के मनोहर लवसकर, शिवलाल बारस्कर और प्रयाग सेलूकर ने बताया कि इनमें आम, जामुन, अमरूद, नींबू, कटहल, जामुन, सीताफल, आंवला, पपीता, मुनगा, महुआ इत्यादि पेड़ शामिल हैं। बांस, सागौन और केवलार भी हैं। कुछ घरों में नारियल, सुपारी और केला भी लगाए गए हैं। इसमें हरी पत्तीदार भाजियां व औषधीय पौधे भी लगाए गए हैं। सभी लोग पौधों की देखरेख करते हैं। उनमें पानी व गोबर खाद देते हैं और जरूरत पड़ने पर गुड़ाई करते हैं।

पक्षियों का बसेरा है

वे आगे बतलाते हैं कि गांव के प्राथमिक शाला परिसर में ही 79 पेड़ रोपे गए हैं। शाला भवन हरा-भरा है, इससे बच्चे भी पर्यावरण के बारे में सीख सकेंगे। पौधों की प्रजातियां, बीज, पत्ती, फूल व फल और फिर बीज के चक्र को समझ सकेंगे। यहां हरियाली बढ़ने से पक्षियों की कई प्रजातियां देखी गई हैं, जैसे गौरैया, तोता, उल्लू, कोयल,कौआ, बगुला, टिटहरी, नीलकंठ इत्यादि।

पेड़ बचाने की सोच

वे आगे बताते हैं कि पेड़ लगाने के साथ ही, जो पेड़ पहले से थे, उन्हें बचाने की पहल की। महुआ, अचार, तेंदू, साज, धावड़ा, बहेड़ा, लेड़िया, हर्रा इत्यादि के पेड़ पहले से थे, उन्हें नहीं काटने का तय हुआ। और इस संबंध में वनविभाग से भी आग्रह किया गया। यानी सबसे पहले हमने कुदरती पेड़ बचाए, और उसके साथ ही नए पेड़ भी लगाने की पहल की।

इन पेड़ों को लगाने के पीछे परंपराओं को बरकरार रखने की सोच भी है। ग्रामीणों ने बताया कि वे प्रकृति पूजक हैं। उनके देवी, देवता पहाड़, पेड़, पौधों और नदियां हैं। इनकी पूजा अर्चना में सदैव ही पेड़ों की जरूरत पड़ती है। तीज-त्यौहार में पंगत (एक साथ बैठकर भोजन करवाने) में दोना पत्तल की जरूरत पड़ती है। इसके लिए सरई, माहुल, खकरा (पलाश), बड़ की जरूरत पड़ती है।

उन्होंने बतलाया गांव के लोगों ने तय किया है कि यहां अगर किसी बेटी की शादी होती है तो उसके ससुराल में दो फलदार पेड़ रोप जाएंगे, जिससे उसे इस गांव की याद बनी रहेगी। क्योंकि इस गांव में तो उसे पेड़ों से खूब फल खाने मिलते हैं, ससुराल में भी मिलें। और उसे मायके की कमी न खलेगी। यह नई पहल शुरू हो गई है। आसपास के गांवों में इसकी चर्चा है।

सब्जी बाड़ी

गांव की जमुना बाई श्यामवती, और अनुसुइया ने बताया कि हर घर में सब्जी-बाड़ी है। पानी भी अलग से नहीं देना पड़ता है। घरेलू उपयोग होने के बाद जो बेकार पानी बचता है, वह सब्जियों में देते हैं। भटा (बैंगन), टमाटर, लौकी, गिलकी, बरबटी, गाजर, प्याज लहसुन इत्यादि लगाते हैं। फल के साथ सब्जियां भी बाज़ार से लाना लगभग बंद कर दिया है। कभी-कभार ही सब्जियां बाज़ार से लाते हैं। उन्होंने बताया कि पहले फल बेचनेवाले आते थे, तो बच्चे दौड़ते थे खरीदने के लिए,अब हर घर में खूब फल मिलते हैं। पेड़ों की परवरिश एक बच्चे की परवरिश की तरह करते है। और उन्हें बड़े होते देखना, बच्चों की तरह ही संतोष देता है।

घर के पीछे सब्जी बाड़ी भी लगाई गई हैं, जिसमें कई तरह की सब्जियां हैं। इसमें भटा, मिरची, गिलकी, कद्दू, लौकी, बरबटी, भिंडी, करेला, टमाटर, आलू, प्याज, लहसुन, धनिया इत्यादि हैं। सेमी, पपीता भी हैं। कुछ लोगों ने बाड़ियों के आसपास तुअर भी लगाई थी।

कमाई का जरिया भी

गाव के गरजन सिंह ने बताया कि पिछले साल उन्होंने करीब 20 हजार रुपए की सब्जियां बेची। इसमें कटहल, आम और टमाटर, भटा, धनिया, ककड़ी, बरबटी इत्यादि शामिल हैं। इसी प्रकार, शिवपाल, लखन, और प्रयान ने करीब 7-7 सौ की प्याज बेची। इसके साथ ही ताजी, हरी सब्जियां घर में खाने को मिली।

पुनर्वास समिति के अध्यक्ष लखनलाल कलमे ने बताया कि हमने वर्षा के पानी की बूंद-बूंद को भूजल बढ़ाने के लिए इस्तेमाल किया है। यहां के हर घर की छत का पानी सोख्ता गड्ढा से जमीन के अंदर वर्षा जल संचयन पद्धति से जमीन में डाला जा रहा है, जिससे भूजल बढ़ रहा है। यहां की जमीन हल्की पथरीली है, उसकी जलधारण क्षमता कम है, भूजल स्तर हर साल नीचे जा रहा है। इसके मद्देनजर पानी की कमी को दूर करने के लिए यह पहल बहुत महत्वपूर्ण है। वर्षा जल को भूमि के अंदर डालकर मौजूद पानी के स्तर को बढ़ाया जा सकता है।

उन्होंने बतलाया गांव के लोगों ने तय किया है कि यहां अगर किसी बेटी की शादी होती है तो उसके ससुराल में दो फलदार पेड़ रोप जाएंगे, जिससे उसे इस गांव की याद बनी रहेगी। क्योंकि इस गांव में तो उसे पेड़ों से खूब फल खाने मिलते हैं, ससुराल में भी मिलें। और उसे मायके की कमी न खलेगी। यह नई पहल शुरु हो गई है। आसपास के गांवों में इसकी चर्चा है।

जैविक खेती की पहल

जयसिंह ने बताया कि उन्होंने जैविक खेती शुरू की है, जिससे जैविक अनाज के साथ पर्यावरण का भी नुकसान नहीं होता है। रासायनिक खाद और कीटनाशक दवाओं को छोड़कर गोमूत्र और गोबर से तैयार खाद और फसल रक्षा के छिड़काव को प्रोत्साहित किया जा रहा है। इसी प्रकार, सब्जियों की खेती की जा रही है। उन्होंने कहा कि स्वास्थ्य व स्वाद की दृष्टि से जैविक खेती बहुत अच्छी है। प्राकृतिक खेती करने से जमीन भी सुधर रही है। वह भुरभुरी, पोली व हवादार हो रही है और उसमें नमी देर तक बनी रहती है।

शिवलाल, अधार सिंह, छोटेलाल, गर्जन सिंह ने बताया कि अगर जलवायु बदलाव से तापमान बढ़ेगा तो जंगली जानवर पर भी संकट आएगा। क्योंकि वे भी ज्यादा गर्मी सहन नहीं कर पाते हैं। इनमें से कई जानवर ठंडे स्थानों में रहना पसंद करते हैं। जंगलों के बीच में गुफाओं व घने वनों में वे उनका पर्यावास बनाते हैं।

किसान आदिवासी संगठन के कार्यकर्ता फागराम कहते हैं उनका संगठन हमेशा से ही जंगल बचाने व हरियाली का पक्षधर रहा है। काकड़ी के लोग भी संगठन से जुड़े रहे हैं। यह पहल दूसरे गांव में भी होनी चाहिए, ऐसा प्रयास करेंगे। वैसे इस तरह की एक पहल बैतूल जिले में श्रमिक आदिवासी संगठन चला रहा है, जो बारिश के पहले गांव-गांव में हरियाली यात्रा निकालकर पौधे रोपने का संदेश देता है। और इससे क्षेत्र में हरियाली बढ़ी है।

कुल मिलाकर, पेड़ों से साफ हवा मिलती है, फल, फूल और पत्ते मिलते हैं और हरियाली हो रही है। ऐसी हरियाली जंगल में खूब थी, अब यहीं छोटा हरा-भरा जंगल बन गया है। आगे इन्हीं पेड़ों से फल मिलेंगे, उनके भोजन में पौष्टिक फल शामिल होंगे, और अतिरिक्त होने पर उनकी बिक्री से आमदनी भी होगी, कुछ आमदनी होना भी शुरू हो गई है, इससे लोगों की आर्थिक स्थिति में सुधार होगा। सब्जी बाड़ी करने से लोगों के खान-पान बेहतर होगा। स्वास्थ्य अच्छा होगा।

जलवायु बदलाव के दौर में पेड़ों व हरियाली से वायुमंडल में ग्रीन हाउस गैस सोखने की क्षमता बढ़ती है। यह जलवायु बदलाव कम करने का तरीका है। जैविक खेती में ग्रीन हाउस गैस का उत्सर्जन है ही नहीं, दूसरी ओर मिट्टी बेहतर होती है। यानी पेड़ लगाना, जल संरक्षण, हरियाली बढ़ाने और नए फलदार पेड़ लगाने का काम बहुत महत्वपूर्ण व उपयोगी है। इस पहल का महत्व और भी बढ़ जाता है क्योंकि यह पूरी पहल आदिवासियों ने की है, जो उनकी जीवनशैली से उपजी है। यानी आदिवासियों को वनों से जोड़ा जाए तो न केवल जंगल, जैव विविधता, पर्यावरण बचेगा, बल्कि उनकी आजीवका की भी रक्षा होगी। यानी आजीविका के साथ पर्यावरण की रक्षा, जो इस जलवायु बदलाव के दौर की सबसे बड़ी जरूरत है।